# शब्द-संसार की यायावरी

नंद चतुर्वेदी



पंचशील प्रकाशन, जयपुर



राजस्थान साहित्य अकादमी के आर्थिक सहयोग से प्रकाशित



मूल्य : पचास रुपये

प्रकाशक
पंचशील प्रकाशन
फिल्म कालोनी, चौड़ा रास्ता,
जयपुर-302003

प्रथम संस्करण : 1985

मुद्रक : शांति मुद्रणालय, दिल्ली-32

SHABDA-SANSAR KI YAYAWARI (Criticism)
By Nand Chaturvedi Rs. 50.00

पिता को

जिन्होंने हमेशा शक्ति,
प्रेम और आज़ादी दी

# अनुक्रम

# अपनी तरफ से

हमारे समय की विलक्षणता यह है कि हम लिखते है और बार-बार यह पूछते हैं कि लिखते क्यों हैं ? ऐसा पूछना 'आत्म साक्षात्कार' से कम नही होता । एक सवाल का सामना करना तलवार की धार पर चलना होता है ।

इससे पूर्व कवियों से यह सवाल कोई नही करता था । वे बहुत ऊंचे पद पर स्रष्टा के पद पर माने जाते थे । उन्हें निरंकुश होने की आजादी थी । निरंकुशता के कारण या 'निरंकुशता' हासिल करने के लिए वे साहित्य रचना करते थे ।

शब्द का अपना दबदबा था । शब्द एक रहस्य-वृत्त बनाता था । हजारों लक्षण-ग्रंथ इसकी व्याख्या करते थे । अलग मे यह सवाल नही था लिखते क्यों है ?

लेकिन अब यह सवाल है । इस सवाल का कोई एक उत्तर नही है—एक गणित के प्रश्न की तरह सबका उत्तर किसी जानकार या विशेषज्ञ ने अंत मे लिख नही दिया है । एक उत्तर नही होने के कारण एक लम्बी बहस है और अनेक उत्तर हैं । सब अपने-अपने उत्तर देते है, मिलाते हैं और एक-दूसरे की आलोचना करते है, भिन्न उत्तर होने के कारण बताते हैं, आक्रमण करते हैं ।

किसी कर्म की जांच करना, उसके कारणों का पता लगाना, उसे रहस्य और अंध-श्रद्धा से मुक्त करना, उसे 'मानवीय कर्म' बनाना है । इस तरह सर्जनात्मक कर्म एक हैसियत और दायित्व पूर्ण कर्म की श्रेणी में आ जाता है ।

1. 'शब्द-संसार की यायावरी' मे मैंने प्रारम्भिक आलेख साहित्यिक कर्म के कारणों की जांच करते हुए लिखे हैं । मेरी दृष्टि से साहित्य की स्वायत्तता और सापेक्षता को विकट बहस का मुद्दा नही बनाया जा सकता । बहस के बीचोबीच एक 'सतुलन' की जरूरत समझी जा सकती है । यह किसी भी लेखक की बुनियादी जरूरत होगी कि वह अपने लेखन को सामयिक राजनीति का हिस्सा होने से बचाए । दरअसल साहित्य को सामयिक राजनीति की प्रतिक्रियाओं से बचाना साहित्य को कोई ऊंची हैसियत देना नही है बल्कि उसके मिजाज, उसकी प्रकृति

को समझना है। सर्जनात्मक ऊर्जा और राजनीतिक ऊर्जाओं का स्वभाव बहुत भिन्न-भिन्न है। राजनीति जिन लकीरों, रूढ़ियों और संकीर्णताओं को बढ़ाती है साहित्य उन्हे कही न कही काटता है।

साहित्य स्वाधीनता का एक पक्ष है। जब कभी उसे 'स्वाधीनता' से विमुख किया जाएगा वह कभी न हिलने वाले समय का मृत हिस्सा होगा। स्वाधीनता ही साहित्य की स्वायत्तता है। अगर स्वाधीनता हासिल करना मानवीय कर्म की बड़ी उपलब्धि है तो साहित्य के साथ उसे जोड़े रहना आवश्यक है। मैने साहित्य और साहित्यकर्मी की स्वाधीनता को मूल्यवान सरोकार माना है। इस स्वाधीनता से ही संसार का अपार सौन्दर्य रक्षित होता है और सृष्टि की पुनर्रचना होती है —एक अनाकृत, बेतरतीब चिन्ता आकृति लेती है और भविष्य के दरवाजे पर दस्तक देती है।

2. 'शब्द-संसार की यायावरी' का एक बड़ा हिस्सा राजस्थान की समकालीन कविता और कवियो पर है। मेरे मत में 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' हिन्दी के अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाधर्मियों का उल्लेख नही करता और प्रान्तों की साहित्य-जिजीविषा को रेखांकित करने का काम भी नही करता। इस तरह वह सिर्फ साहित्य की केन्द्रीय प्रवृत्तियों और केन्द्रीय व्यक्तियों तक ही सीमित रह जाता है। साहित्य-इतिहास का इस तरह सीमित और केन्द्रित होना द्वेष-बुद्धि उत्पन्न करता है।

राजस्थान में हिन्दी का जो साहित्य—कविता, कहानी, उपन्यास लिखा जा रहा है उसे मूल्यांकित करना जरूरी हो गया है क्योंकि वह हिन्दी साहित्य के इतिहास का एक हिस्सा है। किसी द्वेषी अथवा प्रतिस्पर्धी मन से नही लेकिन प्रान्तीय रचना-कर्म को 'हैसियत' देने की दृष्टि से मैंने ये आलेख लिखे हैं। अभी तक हमारी ओर किसी ने आंख तक उठा कर नहीं देखा है इसलिए यह जिम्मेदारी हमारी ही है कि हम लिखें भी, लिखे को मूल्यांकित करें, लेखकों को स्थापित करें और साहित्य इतिहास को केवल उत्तर प्रदेश का ही नहीं हिन्दी प्रदेश का इतिहास बनाएं। मह तर्क मैं आक्रामक पक्ष की ओर से नही बचाव पक्ष की ओर से दे रहा हू।

इस खंड का सबसे पहला आलेख 'राजस्थान की हिन्दी कविता के प्रतिमान' है। इस आलेख में विभिन्न राज्यों के एक हो जाने के उपरान्त राजस्थान के साहित्योन्मेष का सिलसिलेवार ब्यौरा है। इस आलेख में राजस्थान के साहित्य का विश्लेषण और मूल्यांकन करने की कोशिश भी है। इसके बाद वाले लेख कुछ कवियों की रचनाधर्मिता पर प्रकाश डालते हैं।

इस दिशा में राजस्थान साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित साहित्यिक मासिकी 'मधुमती' महत्त्वपूर्ण काम कर रही है, लेकिन प्रान्त में जिस तेजी से साहित्य-

लेखन का काम हो रहा है उस तरफ और पुराने लेखन को विधिवत् करने की दृष्टि से बहुत-सा काम किया जाना शेष है।

3. 'शब्द-संसार की' यायावरी' पुस्तक पुरस्कृत होने के बाद मैंने 'साहित्य और स्वाधीनता' शीर्षक नया आलेख जोड़ा है। इस आलेख को मैंने राज साहित्य अकादमी के लिए लिखा था और राजस्थान विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में पढ़ा था।

4. तीन आलेख 'स्मृति कर्म' है। प्रेमचंद, राममनोहर लोहिया और रांगेय राघव लगातार मुझे अपनी तरफ खींचते रहे हैं। राममनोहर लोहिया की 'सांस्कृतिक ऊर्जा' इतनी रचनात्मक और रोमांचकारी है कि जब भी मेधावी व्यक्ति उन्हें राजनीति के प्रसंग से थोड़ा अलग करेंगे, उन्हें मूल्यवान पाएंगे। प्रेमचंद और रांगेय राघव के सम्बन्ध में मुझे कुछ नही कहना है।

5. गद्य-लेखन के सिलसिले मे मैंने यायावरी ही की है। किसी खास विधा को छोड़कर आज का लेखक 'यायावरी' ही कर सकता है। एकतरफा, एक आयामी दुनिया में रहना सम्भव नही है, रहना भी नही चाहिए, इसलिए हजारों-हजार सवाल, कई-कई तरह से उलझे सवाल, अन्तर्ग्रथित और संश्लिष्ट, अनेक अनुशासनों से मूल्यांकित सवाल हमारे सामने हैं। लगभग सभी पर कुछ कहना-लिखना होता है और वही किया है।

सभी सवालों के उत्तर इस पुस्तक मे नही हैं। इस छोटी किताब में इतनी सामग्री ही यथेष्ट है।

6. 'यायावरी' एक प्रसन्न कर्म है न तो पूर्व-नियोजित, न विवशतापूर्ण। चलते-चलते जहां विराम आ गया है आ जाने दिया है।

7. मैं राजस्थान साहित्य अकादमी और पंचशील प्रकाशन के व्यवस्थापक भाई मूलचंद गुप्ता का हृदय से कृतज्ञ हूं जिनके कारण यह पुस्तक प्रकाशित हो सकी। श्री गुप्ता ने राजस्थान के कई कवि-लेखकों की पुस्तकें छापने की पहल की है। उन्होंने यह महत्त्वपूर्ण काम किया है।

—नंद चतुर्वेदी

# साहित्य के बुनियादी सरोकार

मेरे लिए यह बहुत आवश्यक है कि साहित्य के बुनियादी सरोकार पर फिर से विचार करूं। इस तथ्य को जानते हुए कि कोई एक निर्णय निकाल पाना शायद संभव न हो, लेकिन इस आशा से कि एक व्यापक सहमति पर पहुंचा जा सकता है और तेजी से बदलते हुए मानवीय मूल्यों, रिश्तों, इतिहास-प्रसंगों और ज्ञान के विस्फोटक विस्तार के बीच भी एक जमीन तलाश की जा सकती है जो साहित्य-रचनाओं के आस्वाद और जांच की प्रामाणिकता के लिए बुनियादी नजरिया दे सके।

पीछे मुड़कर देखें तो साहित्य के बुनियादी सरोकारों में यश, अर्थ, शिव की रक्षा और ललित मृदु वचनों में उपदेशों को बहुत महत्त्व दिया गया है लेकिन अब इनकी चर्चा अप्रासंगिक हो गयी है। मेरी दृष्टि में उनको इसलिए अप्रासंगिक माना जा सकता है क्योंकि वे रचना के कारणों की अपेक्षा रचना की नियति को पूर्व-निर्धारित कर देते हैं। ऐसा हो सकता है और हुआ भी है कि लौकिक या कि किसी दूसरे अर्थ में कृति यश, अर्थ और मंगल का कोई प्रयोजन सिद्ध न करे, सिर्फ मनुष्य नियति का किंचित रहस्य खोलकर ही रह जाये।

मनोविज्ञान की तरफ से कृति के लिए बहुत से दावे किए गए। मनुष्य की गुह्यतम आकांक्षाओं की जानकारी के जरिये यह बताया गया कि साहित्य-रचना का बुनियादी प्रयोजन अपने से छुट्टी पाना है और एक ऐसे संसार की रचना करना है जो मनुष्य के इर्द-गिर्द फैली हुई सृष्टि से अलग कोई द्वीप हो—प्रेम का, सौंदर्य का, अभुक्त-अतृप्त आकांक्षाओं की तृप्ति का।

यह भी कहा गया कि साहित्य-रचना के मूल मे आदमी की अपनी ही दबी हुई कामेच्छायें हैं और यह कि साहित्य के जरिये वह अपनी हीनताओं की क्षति पूरी करता है। एक बार तो मनोविश्लेषकों ने ऐसी समीक्षा शैली आविष्कृत की कि कृति के बुनियादी सरोकार ढूंढ़ने के बजाय कृतिकार के बुनियादी सरोकार ढूढ़े जाने लगे। कई साहित्यिक कृतिया महज बीमार आदमियो और स्त्रियों का

विवरण होकर रह गई। ऐसी कृतियों ने साहित्य पढने वाले को बहुत-सा मनोविज्ञान पढाया, यह उपकार भी किया कि जिससे अधिक सार्थक, मानवीय और दम्भ रहित नैतिकता की पहचान शुरू हुई और यह लगभग निश्चित-सा हो गया कि मानवीय रिश्ते गडबडा गए है, जिन्हें फिर से अर्थ देने के लिए सहजता और खुलापन आवश्यक है। एक मोक्ष-कामी समाज और अध्यात्म से बंधे लोगों के लिए यह स्वतन्त्रता की तलाश थी। मनुष्य को परम्परागत नीति-आचरण की श्रेणियों में विभाजित करने की अपेक्षा उसे एक पूरे मनुष्य की तरह जीवित रहने की स्वाधीनता का यह प्रारम्भ था। जात-बिरादरी को तोड़कर प्रेम करने की स्वाधीनता को लेकर कितनी-कितनी तो प्रेम-कहानियां लिखी गईं और साहित्य मे 'क्रान्ति-आचरण' की शुरुआत मानी गयी। सिद्धान्ततः यह स्वीकार किया जाने लगा कि सब तरह के मनुष्य-स्वभाव को अंकित करने की स्वाधीनता साहित्य के लिए जरूरी है।

मनोविज्ञान के साथ ही साथ मनुष्य मन और रिश्तों के प्रसंग मे एक दूसरा बुनियादी सवाल उठाया गया। पूछा यह जाने लगा कि आखिर मनुष्यो के मन जो कुछ हैं और उसके रिश्ते जैसे कुछ, वे नितांत निरपेक्ष हैं—एकदम वैयक्तिक, अलौकिक, स्वतन्त्र या उनका सम्बन्ध हमारे इर्द-गिर्द और जानी-पहचानी व्यवस्था और आस-पास के फैले समाज से भी हैं? मनुष्य के बीमार रिश्तों और रुग्ण नैतिकता की जड़ कहां है? क्या वह मनुष्य और मनुष्य के बीच अमानवीय आर्थिक सम्बन्धों के कारण नही जन्मी है? यह सवाल एकदम चौंका देने वाला था क्योकि यह मनुष्य-नियति और यातनाओं की रहस्यमयी, अमूर्त और मूर्ख बनाने वाली व्याख्याओ से अलग कर देता था, और एक दूसरी तरह की दृष्टि भी देता था जिससे मनुष्य की असमान और पराधीन बनाये रखने वाली शक्तियों की पहचान हो जाती थी। मार्क्स ने इस तरह बहुत-से औंधे सवाल सीधे खड़े कर दिये। साहित्य और संस्कृति, आत्मा और चेतना के सिलसिले मे हाशिये पर लिखे प्रश्न केन्द्रीय प्रश्नों के रूप मे उभर आये। अब साहित्य का बुनियादी सरोकार चातुर्यपूर्ण उक्ति-विधा से हट कर मनुष्य-नियति को बदलने और संसार को स्वतन्त्रता और बराबरी के सम्भाव्य स्तरों तक ले जाने मे जुड़ गया। साहित्य के तमाम तरल, अमूर्त सवाल समता और स्वाधीनता के संदर्भ में व्याख्यायित होने लगे। आज भी साहित्य की रणनीति, साहित्य को औजार या हथगोले के रूप मे काम लें, 'साहित्यिक क्रान्ति' इत्यादि मुहावरे मानवीय समता और स्वाधीनता के सिलसिले को आगे बढ़ाने के लिए साहित्य के संघर्ष-नारे हैं।

समता और स्वाधीनता साहित्य के लिए हमेशा मोहक शब्द रहे है। कृतिकारों ने इस पक्ष में रहकर 'निरंकुश' होने तक की अप्रीतिकर उपाधि हासिल की है और बेहिसाब खतरे उठाये हैं। ऐसा पहले भी हुआ है, यद्यपि

एक अनवरत चेष्टा और किसी स्पष्ट दायित्व के साथ नही लेकिन बिखरी-बिखरी चेष्टाओं के रूप में। इतिहास की अधिक साफ समझ और मानवीय इच्छाओं के निरंतर दबावों ने अब करीब-करीब यह स्पष्ट कर दिया है कि समता और स्वाधीनता के लिए फिलहाल किए जाने वाले प्रयत्न काफी नही है और यह भी कि गैर-बराबरी और पराधीनता के लिए काम करने वाली शक्तियां अन्तहीन छद्म और क्रूरता को कार्य में ले रही हैं। समता और स्वाधीनता यदि मनुष्य के अस्तित्व की बुनियादी आकांक्षा है तो उसको कृति-प्रसंग मे दूसरे नम्बर पर नही रखा जा सकता। कोई भी मूल्यवान कृति समता और स्वाधीनता के बुनियादी प्रसगों से जुडकर ही अर्थ हासिल करती है और साथ ही इन दोनो मूल्यो के अर्थ को गहरा और व्यापक बनाती है। मेरी समझ में इस तरह वह अपने पाठक से जुड़ती है। एक समान आकांक्षा-भूमि पर एक ही काल का साक्षात्कार करते हुए कृतिकार और कृति पढ़ने वाले मिल जाते हैं।

दुनिया के पिछले इतिहास को देखते हुए मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि अनेक बार सत्ता भी साहित्य के प्रसंग मे स्वयं एक प्रभावशाली पक्ष हो जाती है। वह मनुष्यों के रुचि-निर्माण मे नियत्रणकर्त्ता की तरह मौजूद होती है और स्वीकार की जाने वाली हैसियत में होती है। उसके मुकाबले में आदमी लगभग शक्तिहीन हो जाता है, असहाय और आतंकित भी। ये सत्ताएं शक्ति-पुज होने के साथ-साथ चतुर भी हो गयी हैं। 'क्रान्तिधर्मिता' की सारी दलीलों से परिचित हैं और फायदा उठाती है। वे क्रान्तिकारियो की प्रखर शब्दावली से भी अधिक प्रखर शब्दावली काम मे लाती हैं और शब्दों को अर्थ-विच्युत कर देती हैं। सब शब्द और व्यक्ति अन्त में एक समान प्रतीत होते हैं। सारे संघर्ष इस तरह 'नाराजी से निराशा' और 'निराशा से नाराजी' के बीच का भटकाव और निर्णयहीन यात्रा मे बदल जाते हैं। समता और स्वाधीनता का संघर्ष अब समर्थक और विरोध करने वालों के बीच ही नही है, एक तीसरा पक्ष सत्ता-पक्ष भी शामिल हो गया है जो अपने को 'जन-पक्ष' कहता है।

समता और स्वाधीनता का प्रश्न मूल्यो (Values) के साथ जुडा होने के कारण अपेक्षाकृत जटिल हो गया है। मूल्यो के संदर्भ मे यह कहना कठिन है कि उनमे से कौन-सा सर्वथा प्रामाणिक और संशय-रहित है, नैतिक आस्थाओं की स्थिति क्या है? स्वयं समता और स्वाधीनता के अर्थ और स्तरो में पेचीदगियां उपस्थित की जाती हैं। पुरोहितों के अपने-अपने पक्ष तो हैं ही, अपना पक्ष भी है।

बहरहाल यह भी स्पष्ट होता जा रहा है कि निहित स्वार्थों का जो प्रगट रूप है, समाज और व्यक्ति की जो विसंगतियों और अन्तर्विरोध हैं, अपने को स्थिर करने के लिए सत्तापक्ष की जो बुनियादी तृष्णा है, इतिहास, परम्परा धर्म

के जो कमजोर और अंधेरे पक्ष हैं, या कि वर्गों और जातियों के जो भेद हैं उन सब के लिए सब समय संघर्ष की आवश्यकता को रेखांकित करना साहित्य का बुनियादी सरोकार है। इस सरोकार के साथ जुड़ने का अर्थ शब्द की अपरिमित शक्ति का दबाव कम करना नहीं है और वह शायद कम होगा भी नहीं क्योंकि आने वाले दिनों में साहित्य-रचना करने वालों के लिए 'समता और स्वाधीनता' के वृहत्तर मंतव्यों की तलाश करना और शब्दों को उन मंतव्यों का वाहक बनाना कम रोमांचकारी नहीं होगा।

यह सिर्फ बहस की शुरुआत है कि जिससे साहित्य के जरिये मनुष्य की दीनता, पराजय, असहायता, संशय कम हो और क्रूरताओं के प्रति उसकी नाराजगी और जागरूकता बढ़े। इस बहस से यह भी लाभ होगा कि हम अपने समय के प्रज्वलित प्रश्नो से जुड़कर साहित्य की प्रासंगिक रचना कर सकेंगे और काल को अधिक प्रखर बनायेंगे। 'साहित्य क्यों' इस प्रश्न को अनुत्तरित रहने देना साहित्य के लिए तो भयावह है ही मनुष्य-नियति के लिए भी भयावह है क्योंकि साहित्य के जरिये ही इतिहास की चुप्पी टूट सकती है, आगे बढ़ा जा सकता है।

# शब्द और कर्म

रचनाधर्मी के सामने इन दिनों शायद यह प्रश्न अधिक महत्त्व का है कि शब्द और कर्म के बीच कोई गहरा और आत्मीय सम्बन्ध है या नहीं? अन्त में रचना की कसौटी क्या हो? अनुभवों का कथन, शिल्प का नयापन, ख्यालों की बुलन्दी, सम्प्रेषण की सरलता, रचना की प्रभावोत्पादकता यानी रचना की कसौटी उसी में अन्तर्निहित तत्त्वों के आधार हों और फिर, कृतिकार की कर्म की स्वाधीनता रहे अथवा कि उसकी रचना के साथ-साथ उसका कर्म, उसका नित्य व्यवहार, उसका शील और आचरण की भी परख हो। मेरी दृष्टि में इस प्रश्न को उत्तरित करना इसलिए भी आवश्यक है क्योंकि शब्दों की अर्थ-मर्यादा विलुप्त हो गयी है और साथ ही शब्दों की अर्थ-विच्युति करने वाले लोगों को वे सब सुविधाएं उपलब्ध हैं जो पहले नहीं थी या कि बहुत कम थी। शब्दों के रोमांचकारी अर्थ जब रक्त-जिजीविषा और कर्म के समर्थन में काम आने लगें तब कर्म के संदर्भ में शब्द को समझा जाएगा या शब्द की जो अपनी नियति है और अर्थवत्ता है उस संदर्भ में।

पिछले दशकों में लेखकीय ईमानदारी और 'अनुभव की प्रामाणिकता' की इतनी अधिक चर्चा हुई है कि अब उसकी चर्चा ही बन्द हो गयी है, किन्तु फिर इस शब्दावली को काम में लें तो क्या यह पूछना सार्थक नहीं है कि लेखकीय ईमानदारी का और अनुभव की प्रामाणिकता का प्रमाण देने के लिए कर्मशीलता, किसी आचरण की विशिष्ट भंगिमा अपनाना जरूरी होता या नहीं? यदि शब्द और कर्म का उत्स एक है तो हो सकता है कि उनकी व्याप्ति में अन्तर हो—शब्द की व्याप्ति गहरी और अमूर्त हो, काल बाधित भी न हो और कर्म मुट्ठी में गहा जाने वाला हो, मूर्त और कालबद्ध हो—लेकिन उसका अर्थ यह तो न हो कि बुनियादी रूप में वे परस्पर विरुद्ध हों। शब्द की घोषणा यदि एक सत्य है और हमारे मूल्य-चुनाव का एक अमूर्त आयाम है तो कर्म उस सत्य के वरण की घोषणा का मूर्त आयाम है। साहित्य में किन्हीं असुविधाओं के कारण शब्द और

कर्म की एक साथ बुनावट पर आपत्ति की जाती है किन्तु संसार में इस बात को बड़ा महत्त्व प्राप्त है कि 'वह जो कहता है वह करता है।'

काव्य-मीमांसक इस बात पर चर्चा करने के लिए स्वतन्त्र है कि कर्म के साथ जोडने पर शब्द की मूल प्रकृति ही बदल जाएगी और उसकी 'रचनाशीलता' मर्यादित होगी; शब्द एक आयामी होकर आवेष्टित हो जाएगा किन्तु, 'कर्म' के साथ न जोड़ने की स्थिति में क्या होगा? तब माना शब्द अनेक आयामी हो जाएंगे, यह भी कि वे मनुष्य की नियति को समझने की गहरी प्रबुद्धता से ओत-प्रोत कर देंगे, किन्तु, इससे भी क्या होगा? एक इच्छा और एक संकल्प की रचनाशीलता का और आदमी के अन्दर बैठे आदमी की प्रबुद्धता का तिलस्म कहां तक जाएगा? उसे अच्छी-बुरी दुनिया के साथ जुडना पड़ेगा। यह अत्यन्त क्लेश की बात होगी कि एक सुन्दर और सार्थक दुनिया का सपना देखने वालों की थोड़ी सी निश्चिन्तता (लापरवाही) से दुनिया बिल्कुल कविता के योग्य ही नही रहे।

पिछले दिनो कुछ मित्र 'कविता के आस्वाद' की चिन्ता कर रहे थे, उन्हे खेद था कि अच्छी कविता का आस्वाद लेने वाले सहृदयों की संख्या कम होती जा रही है और क्योंकि वे विश्वविद्यालय के लोग थे उन्हें यह अच्छा लगा कि काव्य-शिक्षा की शैली बदली जाए। किन्तु मेरी दृष्टि में काव्य-शिक्षा की शैली बदल देने से कोई बुनियादी अंतर आने वाला नही है। सचमुच कविता के आनन्द मे विभोर हो जाने वाले सहृदयो की संख्या इसलिए कम हो गयी है, क्योंकि ज्यादातर आदमियों की दुनिया ही नष्ट हो गयी है। एक बेहिसाब क्रूर दुनिया मे धीरे-धीरे कविता एक विसंगति-सी लगने लग गयी है। आदमी की यह लाचारी है—कि वह जिस दुनिया में है उसे छोड़ ही नही सकता इसलिए वह दूसरी और छोड़ी जा सकने वाली विसंगत कविता छोडने का विकल्प चुन रहा है। थोड़े दिनों तक यदि दुनिया की व्यवस्था बदलती नही है और हमारी प्रबुद्धता 'शब्द और कर्म' को अलग-अलग रखती है तो हमें न कविता की मृत्यु पर शोक होना चाहिए और न अच्छी कविता के आस्वादकों की गिरती हुई संख्या पर।

बहुत दिनो पहले यह बात कही गयी थी—कि वे ठंडे और हवादार बंगलों मे बैठकर 'किसान की दुपहरिया' जैसी कविता लिखते हैं। इस कथन में चोट कृतिकारों पर की गयी थी जो शब्द को 'रहस्यमयता' देने पर विश्वास करते हैं और यह भ्रम फैलाते हैं—कि वे यह कविता लिखकर किसान के दुःख को समझ रहे हैं, सूर्य ठीक उनके बंगले की छत पर तप रहा है जो कि उनके सिर पर तपने का पर्याय है। इधर कला और विद्याओं का जिन लोगो के पास हुनर है वे निरन्तर इस छलावे को फैलाने का प्रयत्न कर रहे हैं—कि जिससे यह समझ लिया जाय कि शब्द कर्म का स्थानापन्न है। एक निरक्षर देश में यह स्थिति सब से कम कष्टदायक है। नाराज होने का हुनर आ जाए और नाराजी प्रसारित करने के

साधन पास में हों तो बिना जोखिम उठाए एक जोखिम भरी जिन्दगी का दृश्य उपस्थित किया जा सकता है। देश में ऐसे रचनाकारों की संख्या कम नही है जिन्होंने शब्द को कर्म का स्थानापन्न बनाकर शब्द की असली शक्ति का क्षरण कर दिया है।

असमंजस की स्थिति यह है कि जो साहित्य-मीमांसक शब्द और कर्म को अलग-अलग रख कर शब्द की रचनाशीलता तलाश कर रहे हैं उनके साथ वे लोग भी चातुर्य से आ जुड़े हैं जो कहने को तो शब्द और कर्म की मूलभूत एकता मे विश्वास करते है लेकिन तव जब कि कोई जोखम न हो। इसलिए उनकी विश्वसनीयता की जांच के लिए जब उनकी कर्म-मीमांसा की जाती है तब वे भी इस तरह क्रुद्ध होते हैं जैसे पूर्व सरणी के लोग।

'शब्द की रचनाशीलता की तलाश' का मुहावरा जीवित रखने का पक्ष हमारा भी है लेकिन उसके लिए अपने इर्द-गिर्द के संसार को क्रूर शक्तियों के हाथ मे निस्साहय सौंप देना उचित नही होगा चाहे वे शक्तिया सरकार की हों, मंत्र-तंत्र की हों या कि बुद्धिजीवियों की। शब्द के सही इस्तेमाल करने वाले की जांच भी उतनी ही जरूरी है जितनी कि सही शब्द की। शब्द की रहस्यमयता फैलाने वाले जब वहुत चतुर हो जाएं तो उसके इस्तेमाल करने वाले की जांच कर्म से ही होगी।

# लिखने की कठिनाइयां

रिल्के के पास किसी अपरिचित युवक फ्रांज कापुस ने अपनी कवितायें भेजी थीं, जाच के लिए नही सलाह के लिए। किन्तु रिल्के ने कविताओं को न तो जांचा और न कोई सलाह दी, सिर्फ कुछ बातें लिखी जिनकी प्रासंगिकता आज भी जैसी की तैसी है। रिल्के ने युवक कवि को लिखा'''सिर्फ एक रास्ता है। आपको अपने भीतर जाना होगा। उस कारण को ढूंढ़ना होगा जो आपको लिखने के लिए कहता है। आपको देखना होगा, क्या वह आपके दिल में गहनतम स्थलों में अपनी जड़ें फैला रहा है? अपने से पूछिए, यदि आपको लिखने से रोका जाए तो आप मरना पसंद करेंगे? सबसे बड़ी बात—आप रात की खामोश घड़ी में अपने से पूछिए, क्या लिखना जरूरी है? भीतर थाह में जाकर आपको इस प्रश्न का कोई गहरा उत्तर लाना होगा'''[1]

आज लिखने की सबसे बड़ी कठिनाई शायद यह हो कि आदमी को जब जीवन के बहुत से मोर्चे खुले लगें और सब जगह लगे कि उसकी जरूरत है; जब रात की कोई घड़ी खामोश न हो और भीतर का हिस्सा प्रश्नों से बेतरह परेशान हो और उत्तर देने या पाने की स्थिति मे न हो, तब क्या लिखें और किस जरूरत के लिए लिखें?

यद्यपि कृतिकार के लिए ऐसे प्रश्न नये नही हैं और बार-बार उसने यह पूछा है कि उसका धर्म क्या है? लेकिन पूर्वज कृतिकार का यह पूछना आत्मा की आश्वस्ति थी; उसकी आत्मा और कृति के बीच में कोई तीसरी शक्ति नहीं थी। एक बार उत्तर देने पर कोई संशय नही था, फिर कृति के प्रति अलग से प्रतिबद्धता नही थी। एक सुविचारित अर्थ मे वह कृति और कृतिकार का नवजन्मोत्सव था। किन्तु, अब कृति और आत्मा के बीच एकान्त संलग्न नहीं है, एक तो आत्मा ही अनेक घडों में बंटी है, भिन्न आत्मा और अभिन्न आत्मा, पक्ष-प्रतिपक्ष के रूप में, निषेध का स्वीकार करती हुई और स्वीकार को निषेध

---

1. निर्मल वर्मा द्वारा अनुवादित रेनर मारिया रिल्के का 'एक और साहित्य' से साभार।

करती हुई ऐसी संशयग्रस्त आत्मा और क्योंकि आत्मा इस तरह बंटी है—चाहा जाने लगा है कि कृतिकार 'प्रतिबद्ध' हो।

यहीं से लिखने की दूसरी कठिनाई शुरू होती है—प्रतिबद्धता की कठिनाई। इस लड़ाई में लिखने वाला महत्त्वपूर्ण और 'लिखना' गौण है? सवाल इस तरह नहीं होता है कि लिखने वाला लिखने के लिए हो जाये या कि जो लिखा उसी में ओत-प्रोत नजर आये; ना, सवाल इस तरह नहीं होता। सवाल इस तरह होता है कि लिखने वाला जैसे अकिंचन हैसियत का है, उसकी हैसियत 'प्रतिबद्धता' है; फिर कोई दूसरी शरण नहीं है। फिर यहीं, यहीं लोटपीट है; प्रतिबद्ध होने की, प्रतिबद्धों को एकत्रित करने की; दीक्षा और शपथ लेने-देने की; प्रतिबद्धों के अकृतित्व को कृतित्व बनाने की। स्पष्ट है कि 'प्रतिबद्धता का यह रस' धीरे-धीरे उस आदमी को तोड़ देता है। जिसने संकल्प लिया था कि वह असत्य से हर मोर्चे पर मिलेगा; सत्य को शब्द देगा, क्रूर मिजाज वाली सत्ताओं के साथ यारी नहीं करेगा; वह एक बड़ी समझदार और नैतिक दुनिया बनाने के लिए कृतिकार होगा।

कृतिकार की आत्मा और शब्द के बीच एक तीसरी शक्ति निरन्तर हस्तक्षेप करती रही है। वह शक्ति है 'राजतंत्र' की। तंत्र की बुनियादी लड़ाई आदमी के वरण स्वातंत्र्य से है, उसके लिए यह प्रीतिकर प्रसंग है कि आदमी के लिए विकल्पों की दुनिया कम से कम होती चली जाये और अन्त में उसकी समस्त स्मृति, शब्दकोष, संकल्प कल्पना-वृत्त वह हो जो तंत्र की है।

लेखकीय स्वाधीनता कृतिकार और तंत्र के बीच एक और लड़ाई का मुद्दा है—वास्तविकता तो यह है कि कृतिकार तंत्र का प्रतिपक्ष है; वह तंत्र के विरोध में जाकर विकल्पों के चयन की स्वाधीनता प्रदान करता है, तंत्र के अन्तर्विरोधों, मर्यादाहीनता, स्वेच्छाचार देखने के लिए रोशनी दे सकता है। तंत्र के लिए आवश्यक है कि इस 'प्रतिपक्ष को पालतू' बनाये और यह स्वीकार करना यद्यपि लज्जाजनक लगता है, किन्तु सत्य है कि तंत्र ऐसा करने में काफी कामयाब हुआ है। सत्ता और तंत्र आदमी के इर्द-गिर्द जिस सम्मोहन की दुनिया बनाते है उससे मुक्त रहना कभी सभव रहा हो, एक दीर्घकालीन अनासक्ति की दीक्षा के बाद लेकिन जो फिलहाल असंभव नही तो कठिन जरूर हो गया है। गरीबी, चिन्ता, रोग, उदासी की दुनिया से मुक्त होने के लिए तंत्र के पास तावीज और शक्ति दोनों हैं। आदमी जिस विधा से पराजित किया जा सके, जिससे खरीदा जा सके, काम में ली जाये।

यही एक अदृश्य आत्महत्या का प्रसग उपस्थित होता है—लेखक धीरे-धीरे तंत्र के शब्द दुहराने लगता है जिन्हें कि पहले उसने निषिद्ध दुनिया के शब्द घोषित कर दिए थे, धीरे-धीरे वह उन वस्तुओं को लुब्ध दृष्टियों से देखता है

जिसे पहले उसने अपनी आकांक्षाओं की सूची से निरस्त कर दिया था, फिर वह राज्य-पुरुष का एक हिस्सा होने का एहसास करता है; गो कि वह सिर्फ एक 'एपेन्डिक्स' होता है। यहां से उसे कृति के लिए 'शब्द' चुनने होते हैं और यदि शब्द आदमी का हिस्सा होते हों, जो कि मैं समझता हूं कि होते हैं, तो वह ऐसे शब्द चुनता है जो एक पूर्व जन्म की याद जैसे लगते हैं जो इस जन्म में अपनी सार्थकता खो चुके हों। शब्दों के जरिये आत्म-साक्षात्कार की जो स्थितियां आती हैं उन्हें वह ठंडे तहखानों मे डालता जाता है और उसकी कृतियां चमकदार डिब्बों की तरह होती है, इतनी चमक से मालिकों का नुकसान नही होता और सेवक को लगता है कि वह अपने पुराने पौरोहित्य कर्म का निर्वाह कर रहा है। आराम की दुनिया मे रहना यदि जरूरी होता गया तो वह भविष्य-कथन कठिन नही है—कि अच्छे साहित्य की दुनिया वीरान हो जाएगी क्योंकि इस दुनिया की शर्तें कुछ दूसरी हैं। अनेक मिजाजों वाली दुनिया के साथ रहने पर सबसे बड़ा नुकसान साहित्यकारो का ही होगा—क्योंकि शायद वही होगा; उन्हें 'अपने मिजाज' का विसर्जन करना होगा, चुनाव भी करना पडेगा कि वह उपभोक्ताओं के लिए लिखें, राज्य सत्ताओं के लिए लिखें, तंत्र और व्यवस्था के लिए लिखें या कि एक 'प्रतिपक्ष' बनकर लिखें।

बहुत जल्दी ही लेखक के सामने यह दिक्कत आने वाली है बल्कि आ ही गयी है कि वह एक विशाल पैमाने पर फैलाती हुई 'टेक्नोलॉजी' से कैसे साक्षात्कार करे? भाषा के जो भी संस्कार होते हैं, जिस इतिहास परम्परा, लोक-चेतना, जलवायु मे शब्द आते हैं वे चलते हैं, साहित्य उन्हें धारण करता है, लम्बे समय तक वे एक मानसिकता, एक रुचि, एक प्रकार के शील को जन्म देते हैं। जिन्दगी यहां भी चलती है और वहां भी जहां आविष्कृतियां होती हैं, वस्तुओं का निर्माण, विस्तार और उत्पादन होता है, फिर आविष्कृतियों की पूरी प्रक्रिया अन्तर्ग्रथित होने की कोशिश मे होती है, एक विशाल व्यवस्था इसमें से जन्मती है। इस व्यवस्था में आदमी घट जाता है, वह नियामक की भूमिका से अलग कर दिया जाता है। वस्तुएं उसे ललचाती हैं। पूजा-पत्री और धर्म से जन्मे हुए शब्द टेक्नोलॉजी से स्वीकृति चाहते हैं लेकिन कुछ अधूरा-सा रह जाता है। रचना और जिन्दगी धीरे-धीरे अलग हो जाती है साहित्य तब ज्यादा से ज्यादा 'ट्रेन्क्वेलाइजर' का काम कर सकता है। पाठक और रचनाकार दोनों ही धीरे-धीरे यह अनुभव करते हैं—कि यह आधुनिक जिन्दगी नही है, यह पुराना इतिहास है—एक 'स्मृति शेष'। अभी भी साहित्य जिस चित्त से स्मृति और कल्पना खोजता है वह 'पुराना-चित्त' है, एक ऐसी जाति का चित्त है, जो भूमि से बंधा है और अनेक प्रकार की सुगंधों से आवेष्ठित है और अब वह सहसा ही एक यंत्र-सभ्यता के आमने-सामने आ गया है। टेक्नोलॉजी का शब्द व्यापार कैसा होगा, कितना

ग्राह्य होगा कितना अग्राह्य, यह भविष्य-कथन करना कठिन है लेकिन यदि वह आदमी की असहायता और निस्संगता तोड़ता नही है, जिसकी बहुत कम आशा है, तो धीरे-धीरे साहित्य की जरूरत कम होती जायेगी।

मुझे प्रतीत होता है कि एक विरोधाभासों की और समूह शक्तियों को प्रचंड और उग्र करने वाली दुनिया रोमांचकारी हो सकती है, लेकिन साहित्य की दुनिया विरोधाभासों और उग्र समूह-शक्तियों और प्रतापी-राज्य तंत्रों से बहुत लम्बे समय तक प्रेरित नही हो सकती। समूह-शक्तियों से व्यक्ति की टकराहट अनिवार्य है क्योंकि व्यक्ति ही समूह की शक्ति और अहम् की संयमहीनता को सहता है। रचनाकार के लिए वे दिन बड़े जोखिम के होगे जब वह समूह शक्तियों के अन्तर्विरोधों का और एक आकृतिहीन टैक्नालॉजी के पार्श्व मे खड़े होकर रचना करेगा।

आने वाले दिनों में राज्य सत्ताएं प्रबल और क्रूर हो सकती है, संगठन अधिक अनुशासन-कामी, शहर अधिक फैले हुए, शस्त्र और सैन्य शक्ति अधिक उद्दंड, व्यवस्था अधिक अमानवीय और क्रूर, बाहरी दुनिया ज्यादा ही आकर्षक और वस्तुएं अधिकाधिक मनोहारी, तब रचनाकार को साहित्य लिखने की जटिलताओं और कठिनाइयों का अनुभव होगा। हो सकता है कि साहित्य के लिए भविष्य की जमीन अधिक उर्वरा न हो, कुछ वीरान ही हो। लेकिन हर हालत मे यह चुनौतीपूर्ण स्थिति तो होगी ही।

# साहित्य को आस्थाओं से बांधने का सवाल

बुद्ध ने कहा था 'संसार जल रहा है' और जिसके भी पास कोमल और सवेदनशील मन है वह साक्षी रहेगा कि आज शायद बुद्ध के समय से कही अधिक ऊंची और दाहकारी लपटों में ससार जल रहा है; यह वात दूसरी है कि उतनी बेचैनी के साथ कोई यह कह नहीं रहा है। यह बात भी सच लगती है कि संसार को जलन से बचाने का काम महात्माओं तक सीमित नही रह गया है क्योंकि वे केवल मनुष्य की उन सद् इच्छाओं को प्रेरित करते हैं जो कभी-कभी उत्तेजित होती हैं और प्राय: प्रभावहीन ही रहती हैं, अधिक से अधिक वे थोड़े समय के लिए तनाव पैदा करती हैं और आदमी 'कृतिवान' न हो तो उसने 'निराश और नाराजगी' के बीच चक्कर कटवाती रहती है। हमारे देश में वे प्रमाण मौजूद हैं जब सदेच्छाओं का बोझ उठाने वाले बीच यात्रा मे दम तोड़ गए हैं या कि निराशा और नाराजगी के वृत्तो मे चक्कर लगाते रहे हैं। और किसी 'कृति और सामूहिक दायित्व' के अभाव मे शब्दो की सारी संवेदनशीलता और अर्थवत्ता फिजूल हो गयी है।

हमारा देश उन चक्करदार'स्मृतियों का प्रमाण है जहा महात्माओं की सदेच्छाओं से प्रेरित हुए लोग व्यक्ति-व्यवहार मे सच्चे, सीधे और एक हद तक असम्पृक्त, निरीह लगते हैं, किन्तु जिनका सामूहिक आचरण तानाशाहों और लम्पटों से भिन्न करना मुश्किल है। यहां ऐसे प्रबुद्ध लोग हैं जो प्रात: ऐसी भाषा बोलते हैं जिसे क्रान्तिकारिता के स्पर्श मिल गये हैं किन्तु जिनकी कृति डरपोकों के आचरण की गवाह है। यहां सत्ताकामी लोग प्राय: वैराग्य की जुबान में बोलते है और अपने बालको को अंग्रेजी मदरसों में पढाने वाले गरीबों के मदरसों की पक्षधरता करते हैं। शब्द और कृति इतनी अलग-अलग हो गयी हैं कि दोनों से उत्पन्न होने वाली नृशंसता और इस अलगाव को न पहचानने की स्थिति मे एक तीसरे की नृशंसता की पहचान करना सर्वथा कठिन हो गया है। सारे देश में छद्म आचरण और उससे उत्पन्न हुई निराशा और उसी से

उत्पन्न हुई क्रूरता जीवन का ऐसा हिस्सा हो गयी है कि किसी को किसी के लिए लाछित करना और उत्तरदायी ठहराना अर्थ नही रखता।

ऐसे समय में यानी इस अंधेरे में हो सकता है कि आदमी सारे नैतिक मूल्यों की बात करना ही छोड दे और उन लोगों की मदद करे जो चाहते हैं कि एक अराजकता का कुहासा फैल जाये और किसी के कंधे पर कोई हाथ न रखे अथवा कि यह हो सकता है कि जैसे नैतिकता की बात करने के लिए कुछ शानदार क्लब खोल दिये जायें और जहां उनकी तिजारत हो और एक विशिष्ट वर्ग निराशा के उस दर्शन की बात करे जो संघर्षरत आदमी के साहस को तोड़ता है और बलवानों को अधिक शक्तिवान बनाता है। हमारे देश में जहां आस्थाओं की जमीन बिल्कुल वंध्या नहीं हुई है, यद्यपि एक निराशा की सीमा तक अंधी आस्थाओं का फैलाव है और कभी न टूटने वाली मूर्छा है, नयी आस्थाओं की पुनर्व्याख्या आवश्यक है। इसमें शायद ही किसी को संशय हो कि साहित्य की शुरुआत और उसका रोमांचकारी होना उसकी प्रभावशालिता और उसकी रहस्यमयता सब कुछ इसी में निहित है कि वह मनुष्य को कितनी 'आस्था' देता है। कोई कितना भी पेचीदा दर्शन प्रतिपादित करे, किन्तु इस बुनियादी आधार से प्रतिश्रुत होना कठिन प्रतीत होता है। अन्त में साहित्य की विलक्षणता और उसकी गहराई, उसका स्थायित्व और अर्थबोध इसी पर निर्भर करेगा कि वह मनुष्य के प्रखर नैतिक बोध और आस्था को वापसी में कितना सहायक होता है।

मैं नैतिकता के द्वारा धर्म की संकीर्ण वापसी का आग्रह नहीं कर रहा हूं और न उस संसार की वापसी पर बल देना हूं जो आदमी को रूप, रस, गंध, स्पर्श, स्वाद की सृष्टि के प्रति विरत और वितृष्णा युक्त करता है। वस्तुतः मैं उस नैतिकता का सपना देखता हूं जो दुनिया-भर के साहित्यकारों का एक काम्य सपना है—हर प्रकार की संकीर्णता से मुक्त होने का उन्मुक्त सपना और मेरी यह धारणा बनती जा रही है कि जब तक मनुष्य को वह 'उन्मुक्त नैतिकता वापस नहीं लौटा' दी जाती है तब तक वह अपनी ही सृष्टि में अजनबी बने रहने की नियति का दुःख भोगता रहेगा।

मैं इस नैतिकता को अमूर्त स्थिति तक भी नहीं ले जाना चाहता हूं। आज के मनुष्य के लिए अमूर्त सपनों का वजन उठाना कठिन हो गया है—धर्माचार्यों और चतुर राजनीतिज्ञों ने दुनिया को समृद्धि और सुख के अमूर्त सपने दिखा-दिखाकर वर्तमान का दुख और कलह भूल जाने का मोह पूर्ण और लम्बी स्थितियों में गुजारा है। दोनों ने इस जन्म के बाद वाले मोहक चित्र बनाये हैं और उनके सत्ता तथा अस्तित्व के लिए मत मांगे हैं। मैं उस नैतिकता को व्याख्यायित करना चाहता हूं जो साहित्य कर्म को पुनः आस्थाशील बना सकती है।

यह स्वीकार करने मे मुझे कोई आपत्ति नही है कि मनुष्य की आस्था का विकट प्रश्न एकदम और अति सरलीकृत रूप मे उपस्थित करना जोखम का काम है फिर भी एक व्यापक संदर्भ मे उसकी चर्चा की जा सकती है।

मुझे यह प्रतीत होता है कि मानवीय संघर्ष के कुछ परिणाम निकल आये हैं, जो कि वे बहुत धीरे-धीरे और असंख्य यातनाओ के बाद निकले हैं और उनमे से पहला परिणाम यह है कि मानवीय सृष्टि का भाग्य खंडित नहीं है, वह एक अखंड अन्विति है और इसलिए उसके सुख-दुख की हिस्सेदारी, छोटे-मोटे भेदों और हिस्सों के उपरान्त भी, बहुत बडे और बेहद छोटे हिस्सों में नही बांटी जा सकती है। भूखे रहने का शास्त्र कोई भी दार्शनिक नही समझा सकता और न उस आनंद की कल्पना की जा सकती है जो अमूर्त और देहातीत है। एक सूक्ष्म संवेदना जो हमारी शताब्दी को संघर्षरत पूर्वजो का उपहार है और जिसमे पूरी सृष्टि के संवेदनशील लोगों का दाय है, साहित्य की सबसे बडी आस्था होनी चाहिये। मनुष्य के सामूहिक भाग्य को व्यक्ति के भाग्य में बांटने का सिलसिला साहित्य को अनास्थाशील बनायेगा और इसलिए वह किसी साहित्य की उपलब्धि नही माना जायगा। जो राजनीति मनुष्य के जुड़े भाग्य को टुकड़ो-टुकड़ों में बाटेगी और जो साहित्य मनुष्य को एक सामूहिक सत्व और स्वाभिमान हासिल करने के लिए नही उठाएगा वह अनास्था की राजनीति और साहित्य होगा। मनुष्य की समान और स्वाभिमानपूर्ण नियति को हम नैतिकता का हिस्सा कहेगे।

हम एक और परिणाम तक भी पहुंचे हैं और वह मनुष्य के उस दर्प की तलाश है जो उसे क्रूर मदान्ध और अनैतिक शक्तियो के विरुद्ध लड़ने का बुनियादी अधिकार देती है। क्रूर मदान्ध, और अनैतिक शक्तियों का रूप और आकृति कैसी होती है इसे समझने के निर्दोष मानदण्ड स्थापित होना अभी शेष हैं, लेकिन मनुष्य के पास वह संवेदनशीलता है जो उसके मंगल अमंगलकारी मित्र और शत्रुओं के बीच पह-चान कराने मे निर्दोष है। मनुष्य उसी दृष्टि और संवेदनशीलता से इतिहास की दुर्द्धर्ष और अंधी शक्तियों से लड़ा है और जीत गया है। यह मानना उचित नहीं है कि क्रूरता के अभिशाप से सृष्टि जल्दी ही मुक्त हो जायेगी, लेकिन यह मानना भी उतना ही अहितकर है कि क्रूरता की शक्तियां कभी समर से नही लौटेंगी। जो साहित्यकार इन क्रूर शक्तियों को पहचानता है और उन शक्तियों के विरुद्ध स्वाधीनचेता मनुष्यों को संघर्षशील बनाता है वह मनुष्य की आस्था को लौटाता है और उस नैतिकता की पक्षधरता का समर्थक है जिसे साहित्य की अंतिम परि-णति मानने का मेरा आग्रह है।

मैं समझता हूं एक और दृष्टि हमें मिल रही है और वह नर-नारी के सम्बन्धों को नये सिरे से देखने की दृष्टि है। अनास्थाशील साहित्यकार नर-नारी की देह

सृष्टि को अनुर्वरा मानकर उन्हें तिजारत के लिए साहित्य में ला रहे हैं और भोग की एक आयामी दुनिया से उसे जोड़ते हैं। एक अवरुद्ध संस्कृति के लिए यह एक चटखारेदार और स्वादिष्ट सामग्री होती है लेकिन वह मनुष्य की आस्था को जोड़ती नही है।

नर-नारी के स्नेह और अपूर्व मैत्री प्रसंगों को मैं कोई 'सूर्य से भी छिपा' लेने वाली वस्तु नही मानता लेकिन उन्हे 'मांस की दुकान पर लटकाये जाने वाली मांस-पेशियों के प्रदर्शन' की तरह मानना भी मुझे अस्वीकार है। नर-नारी के इतिहास को पुनर्व्याख्यायित करने का काम आस्थावान साहित्य का एक महत्त्व-पूर्ण काम होगा।

इस अधूरी संकल्पना को मैं अंतिम तर्क परिणति तक नही ले जाना चाहता। वे लोग जो शब्द को एक पूरी कृति का और कृति को सिर्फ शब्दों का आकार देकर नया समीकरण नही देना चाहते हैं उनके लिए बहुत दिनों तक राजनैतिक घटित को मंडित या कि लांछित करने से काम नही चलेगा बल्कि उन आस्थाओं को मूर्त करना पड़ेगा जो इस जड़ता के बीच भी फिर से स्फूर्ति दें और झनझनायें भी।

# मसीहाओं का साहित्य

पिछला साहित्य देखें तो कृतिकार और कृति-लेखन की असमंजसकारी स्तुति लिखी हुई देखने को मिलती है। ऐसी स्तुति विनम्रता और दंभ दोनों ही उत्पन्न करती है। यह स्तुति इसीलिए की गई है क्योंकि कृतिकार शब्द-सामर्थ्य को धारण करता है और उसके संयोजन से अर्थ की बिलकुल नयी : अकल्पित और रोमांचकारी सृष्टि उत्पन्न कर देता है। इस कौतुकमयी सृष्टि को जन्म देने का पराक्रम जिसके पास हो वह स्वयं को एक 'मसीहा' समझने लगे तो कोई आश्चर्य नहीं है।

वैसे भी मसीहाओं और कृतिकारों में बहुत कुछ एक-सा देखने को मिल जाता है। दोनों सृष्टि को एक नैतिक संदर्भ देने के लिए प्रायः बेचैन होते हैं। एक अधूरे और अतृप्त संसार को पूरा और तृप्त बनाने का सपना दोनों को आविष्ट करता है। दोनों की जिजीविषा का उद्गम यह है कि वे इस संसार को समृद्ध और सुखद बनाने का दायित्व ग्रहण किए हुए हैं। दोनों की भाषा में इसलिए कभी-कभी एक तरह की संगति और लय और बहुत कुछ कविता की अनुगूंज सुनाई देती है।

इतना साम्य होते हुए भी धर्माचार्यों, महन्तों और साधुओं के आभिजात्य में स्रष्टा हो या कवि या किसी अन्य कला विधाओं से जुड़ा हुआ व्यक्ति, सामान्यतया अविश्वसनीय होता है। वह उनकी संगति में अनादृत भी होता है और विद्रोही भी। यह बात हमेशा ही कुछ अद्भुत-सी लगती है कि श्रेष्ठ रचना या कि उसकी रचना-प्रक्रिया में उथल-पुथल का अंश अनिवार्यतः क्यों हो? इसलिए कि यह अंश मनुष्य की स्वाधीनता का बुनियादी हिस्सा है या कि 'अस्वीकार', उसे एक दूसरी तरह की हैसियत प्रदान करता है, जो उसी के हिस्से में है, किसी दूसरे के नहीं—कम-से-कम जबकि मनुष्य सृष्टि के बड़े हिस्से में 'स्वीकार' करने के सिवाय कोई विकल्प नहीं होता है।

धर्म ही के साथ नहीं, सत्ता, सत्ता-प्रतिष्ठानों और सत्ता-केन्द्रों के साथ स्रष्टा का बड़ा अटपटा रिश्ता होता है। इस अटपटे रिश्ते में से वह मसीहाई जन्मती है

जो कविता को एक समानान्तर कर्म बना देती है। मैं सोचना चाहता हूं कि जिस किसी बादशाह ने कुंभनदास को बुलाया हो, उनका यह कहना कि 'आते-जाते जूतियां घिस जाएंगी और अनचाहे चेहरों को देखना पड़ेगा; इतना ही नही सलामें और करनी पड़ेंगी,' जबरदस्त मसीहाई रही होगी, एकदम बादशाह को थर्रा देने वाली और चकित कर देने वाली भी। अनजाने ही यह अपनी स्वाधीनता की घोषणा भी रही होगी। मुझे प्रतीत होता है कि इस अस्वीकार के कुंभनदास जैसे एक दूसरे बादशाह हो गए होंगे। सत्ता अथवा उस समय के बादशाह ने इन्हें कठोर दंड क्यों नहीं दिया ? क्या इसलिए कि सत्ता को उनसे कोई भय नही था या कि इसलिए कि उनकी अवज्ञा की जा सकती थी या फिर इसलिए कि वे कोई व्यापक अराजकता, अस्वीकार अथवा सिविल नाफरमानी का आन्दोलन फैलाने जैसी स्थिति मे नही थे।

कबीर कुंभनदास से अधिक उद्दंड और बेलाग थे; वे व्यवस्था की ऊंच-नीच, जातियो के दुर्दमनीय घमंड, संकीर्णचित्तता और अनुर्वरा-ज्ञान से उत्पन्न होने वाली क्रूरता को पहचानते थे। उनके साथ सत्संग-मंडली थी जो उन्ही की तरह ऊंची जाति वालो के द्वारा कुचल दी गयी थी। वे सब नीची जाति के लोग थे। निरादर ने उनके पूरे अस्तित्व को एक दूसरे किस्म की स्वाधीनता दी थी। कबीर और उनके साथियों के पास कुछ न होना, न जमीन, न पैसा, न मकान, न वस्त्र और न प्रतिष्ठा या कि प्रतिष्ठित होने की तृष्णा—उनकी शक्ति थी। कुछ न होना कबीर का त्रास नहीं था, उनकी मुक्ति थी। न होने के लिए आज भी लोगों के पास कुछ नहीं है, किन्तु वह उनका त्रास है, मुक्ति नहीं है। न होना जिनकी मुक्ति है वे कबीर की तरह मसीहा होते हैं, इसी के बीच से जो शब्द जन्म लेता है वह कर्म होता है ठीक एक पत्थर फेंकने की तरह या एक अश्लील शब्द कहने की तरह। बाद में कबीर को 'खंडन-मंडन' का कवि कहकर लांछित किया गया है। लेकिन सब कोई जानते हैं कि कबीर के समय की कविता कितनी समर्थ और अग्निधर्मा है। आज जब मन्दिर, मस्जिद की सांध्य झालरें, घंटा-ध्वनि और अजानो का स्वर अंधकार में डूब जाता है, कबीर की कविता वैसी की वैसी बहस करती, बोलती, प्रश्न पूछती लगती है ? कबीर की 'मसीहाई' का अन्दाज इसलिए भी अनूठा है कि वह न तो किसी पछतावे से जन्मती है और न किसी सुविधा की तलाश करती है। वह एक भय रहित स्वाधीनता है, भय से उत्पन्न होने वाली स्वाधीनता नही है। मसीहाई तुलसी भी करते हैं किन्तु वे कबीर की तरह के फकीर नहीं है। गृहस्थ वे नहीं रहे, परम्परा का निषेध उन्होंने नही किया। जीवन के अंत मे एक करुणा-युक्त स्वर में उन्होंने कहा, 'मांग कर खा लूंगा, मस्जिद में सो जाऊंगा, न एक लेना है न दो देना।' कबीर और उनकी मंडली के रहते-न-रहते 'सहज मसीहाई' का ठाठ समाप्त हो गया। साधुता तो रही लेकिन फकीरी के दिन बीत

गए। बाद के जो दिन साहित्य को देखने पड़े, वे 'सुविधा और सम्पत्ति' की तलाश के दिन थे। सुविधा और सम्पत्ति की तलाश में लिप्त कृतिकार जातियों के बड़प्पन, अनुर्वरा ज्ञान और कुलीनों के आभिजात्य और शौर्यहीन राजनीति के दाव-पेच देखते रहे। काव्य का मानवीय नैतिकता से सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया और 'अस्वीकार' का विद्रोही स्वर छत्रपतियों की सेवा में समर्पित कर दिया गया। रीति-कविता के 'मसीहाई-विरत' दिन दुख और दैन्य के दिन थे।

कहा जा रहा है कि आज 'मसीहाई' के दिन नही रहे। एक अभिप्राय में यह एक सुखद वक्तव्य है क्योंकि प्रायः 'मसीहा' निर्णय देते हैं—निष्करुणा और निरासक्त निर्णय, जबकि वे स्वय अपराधी होते हैं। दूसरे इसलिए भी कि कोई मानवीय निर्णय द्विधारहित नही है। सारे निर्णय स्थिति के विविध बचाव-पक्ष हैं और उन पर कभी भी सवाल उठाया जा सकता है। तीसरे इसलिए कि आदमी की नियति एक-दूसरे से जुड़ गई है इसलिए मसीहा और आदमी एक ही मंच पर इकट्ठे हैं, वे एक-दूसरे के साथ एक ही नाव मे बैठे हैं। स्थिति की इसी गहरी समझ से वह साहित्य लाछित होने लगा है जो किन्ही पीठासीनों से दिया जाने वाला भाषण होता है या कि अधिक से अधिक प्रार्थना सभा मे दिए जाने वाला ऐसा वक्तव्य जिसे देने के बाद स्वयं वक्ता अधिक निरीह और 'रिरियाता' सा लगने लगता है।

लेकिन वास्तव में ऐसा हुआ है? हुआ केवल इतना ही है कि कबीर की तरह 'सहज मसीहा' जो जिन्दगी के अपमान, संशय और यातना मे सत्यानुसंधान करने का जोखम उठाते थे—विरल हो गए है और उनकी जगह उन लोगों ने ली है जो कहने को मसीहा नही हैं किन्तु 'मसीहाई अन्दाज' मे पौरोहित्य करते हैं—कभी किसी कट्टरता का, कभी किसी सुविधा का, कभी किसी वंश का, कभी कुलीनता का, कभी कुर्सी का, कभी राजनेता का। धीरे-धीरे यह स्थिति बनती जा रही है कि आदमी अपने हिस्से में आए सत्य को देखने से डरने लगा है और उस सत्य की जय-जयकार करता है जिसकी उसे पहचान नही है।

कबीर जैसे मसीहा ने शब्द को जो नयी पहचान दी थी और कर्म के समानान्तर प्रतिष्ठित किया था, आज के मसीहा उसे अपने बचाव-पक्ष की तरह काम में ला रहे हैं। साहित्य का एक बड़ा हिस्सा मसीहाओ की उन रूखी और यातनापूर्ण हिदायतों की तरह होता जा रहा है जो सिर्फ भयाक्रान्त करता है लेकिन किसी नयी सृष्टि के संकल्पो से आह्लादित नही करता। मसीहाओं के हृदय सूख गए हैं। जिन शब्दों के प्रयोग से उनके आंगन की क्यारी हरी-भरी होती है वे ही उनके लिए सार्थक शब्द हैं, वहीं तक उनकी प्रतिबद्धता है। शब्दो के अर्थायाम संकुचित हो गए हैं और सारा साहित्य मुट्ठी-भर पाठकों के समक्ष में आता है। साहित्य सभाओं में घृणा, रोष और मसीहाओं के खेमे, उनके सिद्धान्त-मन्त्र,

उनकी माला, चेले-चाटियों का सम्मान मुख्य होता है जिसे बाद में 'जीवन्त वहस' कहा जाता है।

मेरे जैसे खुली दुनिया बनाने वाले लोग पिछली दुनिया और इतिहास की बहुत-सी बातें स्मरण कर सकते हैं जिसमे एक बात यह है कि यद्यपि इतिहास और दुनिया पीछे लौटेगी नही लेकिन लिखने वाले को बार-बार यह समझना होगा कि शब्द की ताकत कहां है और वह कब-कब विलुप्त हो जाती है। सार्त्र ने किसी प्रसग में कहा था—कि "समाज शास्त्र और मनोविज्ञान की नयी-नयी पुस्तकों ने इतना ज्यादा रोमांचकारी ज्ञान दिया है कि आदमी को उपन्यास पढने की आवश्यकता नही है—उपन्यास मर गया है।" हो सकता है कल राजनीतिकार और अर्थशास्त्री इतने लुभावने शब्दो को आविष्कृत कर लें कि हमें न संगीत की जरूरत रहे न लयात्मक कविता की। उस दिन हमे कबीर जैसे फकीरों की मसीहाई ही बचा सकेगी। इस विपत्ति-घटना मे बचने के लिए एक पूरी जिन्दगी के मानापमान, संकीर्णता, क्रूरता, कृपणता, स्वार्थ मे लड़ने के लिए एकदम नये शब्द की आविष्कृति जरूरी होगी। यह शब्द कुंभनदास के पास जहां से भी आया हो याकि कबीर के पास जहा से भी आया हो वही से आएगा। इस अर्थ मे 'मसीहाओं का साहित्य' फिर से शुरू होना होगा तो होगा। अतीत की इसी जिजीविषा से वर्तमान की लम्पटता कम की जा सकेगी और साहित्य को अपनी मृत्यु से बचाया जा सकेगा जिसका इन्तजार बहुत-सी लोग कर रहे हैं।

# रसज्ञता

संस्कृत के किसी अज्ञातनाम कवि पूर्वज ने अपनी मर्मान्तिक व्यथा प्रकट करते हुए लिखा है—"*विधि ! मेरे भाग्य मे तुम जो चाहो लिख दो, किन्तु अरसिक के समक्ष काव्य-निवेदन का दुर्भाग्यपूर्ण योग मुझे कभी प्राप्त न हो, कभी प्राप्त न हो, कभी प्राप्त न हो।*" प्रतीत होता है, इस कवि-पूर्वज के समय भी सभी लोग काव्य के रस-भोक्ता नही थे। काव्य-रसास्वादन का सौभाग्य थोड़े ही लोगों को था।

वस्तुत: क्या काव्य के रसभोक्ता थोड़े ही व्यक्ति होते है? कम-से-कम भारतीय काव्य-शास्त्र मे रसज्ञ की—जिस विशिष्ट इयत्ता का वर्णन मिलता है उससे तो यही प्रतीत होता है कि सभी लोगों को काव्यमर्मज्ञ होने का सौभाग्य प्राप्त नही था। जैसे सभी लोग समान रूप से बुद्धिमान नही होते उसी तरह सभी लोग प्रथम श्रेणी के रसज्ञ भी नही होते, किन्तु बुद्धि के असमान वितरण पर कोई क्षुब्ध नही होता, पर रसज्ञता के सम्बन्ध में यह स्वीकार करने में लोग अधिक कुपित होते हैं और ऐसे लोगों का यह दावा निरन्तर बना रहता है कि कविता उन तक पहुंचे। कहते हैं कि एक बार रस्किन के व्याख्यान में उनके एक श्रोता ने कहा, "तुम मेरे लिए अगम्य हो।" तुरन्त रस्किन ने उत्तर दिया, "भाई! तुम मुझ तक आओ, मैं तुम तक नही आ सकता।" आज श्रोता यही चाहते हैं कि कवि उन तक जाय, वे कवि तक नही जायेंगे। किन्तु काव्यसृजन के लिए यह आग्रह भयावह है और इससे नितान्त अनर्थकारी सामाजिक अहंकार का जन्म होता है। यह बात दूसरी है कि अमुक कृति श्रेष्ठ है और बहुजन-प्रिय भी, किन्तु बहुजन प्रिय होना ही श्रेष्ठत्व का आधार हो तो कृतिकार को बहुत-सी अन्य चिन्तायें ग्रस्त कर लेंगी—जिनमे से अधिकाश का सम्बन्ध सृजन से नही होगा। यों मानवीय समानता के सुखद निर्माण के समय यह तथ्य अविनयपूर्ण और संकीर्ण प्रतीत होता है किन्तु छद्म-विनय और प्रदर्शन के लिए किसी अवास्तविकता का वरण करना भी तो छोटा-मोटा पाप है। इसलिए स्थिति यह है कि जैसे संस्कृत

के कवि-पूर्वज को उस समय अरसिकों और रसिकों की इयत्ता का भान था, वह विवेक आज भी विलुप्त नही होना चाहिए। इस तथ्य-बोध से कोई नया वर्ग अथवा अहंकारी आभिजात्य या कि विशिष्ट कुलशील की परम्परा नही जन्मेगी क्योंकि वर्ग-स्पृहा को जन्म देने वाली परिस्थितियों का सम्बन्ध काव्य-रसज्ञता से नही है। वर्ग-निर्माण के अनेक और अन्य कारण हैं और मुझे विश्वास है उनके विरुद्ध संघर्ष करने मे काव्य-रसिकों के विमुख होने की कोई संभावना नही है।

इस तथ्य के प्रति भी आकृष्ट होने की आवश्यकता है कि रसज्ञता का सम्बन्ध हिन्दी, अंग्रेजी अथवा अन्य भाषाओ की वरिष्ठ उपाधि-प्राप्त कर लेने से अनिवार्यत: जुड़ा हुआ नही है और न यही आवश्यक है कि अध्यापकीय कर्म में लगे हुए व्यक्ति रसज्ञ ही हों। यों इस दिशा मे विश्वविद्यालय की वरिष्ठ कक्षाओ का अध्यापन कर्म करने वालों ने दूषित वातावरण को जन्म दिया है, किन्तु संस्कारहीन पंडिताई से कालिदास और भवभूति जैसे रस-सिद्ध कवि भी कम त्रस्त नही थे। एक ने शालीनता के साथ पंडिताई से आग्रह किया था कि कृति के श्रेष्ठत्व का सम्बन्ध पुराने और नये होने से क्यों जोड़ रहे हैं; क्योकि सभी कुछ पुराने होने से श्रेष्ठ नही है और न सब कुछ नया होने मात्र से घृणित है। कवि भवभूति ने इसी व्यथा को करुण बनाकर कहा कि न तो पृथ्वी इतनी-सी है और न काल ही। मुझे सराह कर रस-विभोर होने वाला कोई-न-कोई कभी-न-कभी तो जन्मेगा ही। उस समय से आज तक संस्कारहीन पंडिताई का यह दावा है कि उन तक जो चढ़ जाय वही काव्य है और जो उनकी सतही संस्कारिता के लिए अगम्य है अथवा नूतन है वह या तो काव्य है ही नही और यदि है तो काव्य के शाश्वत तत्त्व उसमें विद्यमान नही है। पंडिताई ने शाश्वत तत्त्व की बात आज से प्रारम्भ की हो ऐसा नही है, गतानुगति को धक्का लगाकर जब कही कुछ नया जन्मा है तब ही शाश्वत तत्त्व के आख्यान प्रत्याख्यान की आवृत्ति-पुनरावृत्ति हुई है, किन्तु धीरे-धीरे पंडिताई ने सब-कुछ पचा लिया है। यों उनकी तरफ से प्राप्त यह स्वीकृति सदाशयता अथवा रसज्ञता का प्रमाण नही है, वह समय के साथ उनकी विवशतापूर्ण पराजय मात्र है। सर्प के घायल फण की तरह वह आहत रहती है और जब-जब सृजन फिर किसी नये आयाम में संचरण करता है तब-तब पंडिताई की संस्कारहीन सतही काव्य-रसिकता अधिक उग्रता और अनुदारता से आक्रमण करती चली आई है। हिन्दी के चार दशक का काव्य बार-बार पंडिताई की सतही काव्य-रसिकता के आघात सह चुका है। छायावादी काव्यधारा पर आक्रमण कर पंडिताई परास्त हो गई तो उसने स्वीकार कर लिया कि छायावादी कविता को वह पसन्द तो नही करती फिर भी उसका अस्तित्व उसे मान्य है, क्योंकि छायावाद की मूल प्रेरणा के स्रोत उपनिषदादि हैं। छायावादी काव्य को प्रदान की गई यह मान्यता पंडितों की पितृवत्सलता ही थी

और यह कुछ पहली ही बार उद्घाटित हुआ सत्य नहीं है कि उन्होंने इस काव्य-धारा का स्वागत कभी इसलिए नहीं किया कि वह उत्कृष्ट काव्य का प्रतिनिधित्व करती है। उसके बाद जब यह नया प्रसंग उपस्थित है तब पुरानी पंडिताई फिर जाग गई है और उनकी पुरानी रसज्ञता फिर चिन्ता-ग्रस्त हो उठी है। विश्व-विद्यालय के वरिष्ठ अध्यापक अतीत और गतानुगति की व्याख्या में अत्यन्त आनन्द लेने लगे है, इसलिए नहीं कि वे प्राचीन काव्य-रसज्ञ हैं बल्कि इसलिए कि वे अतीत की व्याख्या करने में जितना अधिक रस लेंगे उतना ही अधिक वर्तमान की भर्त्सना करने का उन्हें अधिकार प्राप्त हो जाएगा। अतीत की भाव-शवल प्रशस्तियाँ गाकर वर्तमान को अकिंचन सिद्ध करने का कौशल इसी पडिताई को प्राप्त है।

रसज्ञता के संदर्भ में यह स्वीकार करने का भी कोई कारण नहीं है कि जो नये कृतिकार हैं वे सब के सब रसज्ञ हो। कुछ कृतिकार समय और शिल्प के साथ ऐसा तादात्म्य स्थापित करते हैं कि रचना उनका स्वभाव हो जाता है। सृजन उनके लिए दर्पण नहीं है जिसमे वे आत्मा की वैभवपूर्ण छवि का दर्शन कर सकें और न सृजन का क्षण उनके लिए आत्म-साक्षात्कार का क्षण ही होता है। यश, अर्थ और व्यवहार के लिए वे उन शब्दों की केंचुली भर पहनते हैं जो उनके और समय की देह पर खूब फबती है। दूसरे वर्ग के कवि अपने सृजन के गहरे रस-भोक्ता होते हैं। यूनानी सुन्दर नार सेशियस की तरह आत्मासक्त। ये कवि स्वय की रचना का आस्वाद करते समय किन्ही विशिष्ट मूल्यो की स्थापना करते हैं किन्तु दूसरों की रचना का आस्वाद करते समय उनके कार्पण्य की कोई सीमा नहीं होती। उस समय उनका मन पुरानी रसज्ञता की देहरी से टकराया करता है।

वस्तुतः रसज्ञ कवि कम ही होते है क्योंकि स्रष्टा की अन्तर्दृष्टि और रसज्ञ की निर्वैयक्तिक भुक्ति व्यक्तियों के दुर्लभ और साधनारत गुण हैं किन्तु वे जिन्हें प्राप्त होते हैं वे काल की सभी क्षुद्र गतानुगति को लाघ कर स्रष्टा और भोक्ता दोनों के लिए नये मान की स्थापना करते हैं।

इस वक्तव्य के उपसंहार मे मैं इतना-भर आश्वस्त होकर कह सकता हूं कि धीरे-धीरे ब्रह्म-ज्ञानी पंडितो और कुत्सित समाज-शास्त्रियों को हतप्रभ कर नई कविता को उसके रसज्ञ प्राप्त हो रहे हैं। ये रसज्ञ वे हैं जो कलाकृति के माध्यम से प्रकट होने वाली अदम्य जिजीविषा को सहृदयतापूर्वक देख लेते हैं और सब प्रकार के पूर्वाग्रहों से पल्ला झाड़ लेने मे समर्थ हैं। नई-युक्तियों की रक्षा मे उन्हे जो प्राणवान अर्थ-गरिमा दृष्टिगत होती है उससे वे मनुष्य की अपरिसीम जिज्ञासा, सत्य को स्पर्श करने की दुर्निवार इच्छा और सृजन की शक्तिशाली उत्कंठा को पढ़ते रहते हैं। इसलिए उन्हें न तो कहीं अनास्था दृष्टिगत होती है और न गत्यवरोध। दुरूह और क्लिष्ट से उन्हे शिकायत नहीं है और न पुराने

# रचना की स्वाधीनता या स्वाधीनता की रचना

पिछले वर्ष की डायरी में मैंने आन्द्रे जीद की एक पंक्ति लिखी है—जीद आपको स्मरण है फ्रांस के प्रसिद्ध कृतिकार और उपन्यास लेखक हैं—कला दमन से उत्पन्न होती है, संघर्ष पर जीती है और स्वाधीनता में विसर्जित होती है। प्रतीत होता है *स्वाधीनता में विसर्जित होना ही कृति की सबसे महत्त्वपूर्ण नियति है* और मनुष्य को या कि उसके रचने वाली की बुनियादी जरूरत, ठीक उसी तरह की जैसे भूख।

इतिहास में भूखे लोगों ने इतनी यातना सही है कि *मानवीय* मूल्यों के सदर्भ में चिन्ता करने वाले लोग स्वाधीनता का सवाल उठाना ही भूल गये थे और वह उठा भी तो इतनी फुरसत के साथ जैसे वह नहाने का साबुन हो या कि 'टूथ पेस्ट'। भूख और स्वाधीनता के प्रसंग में *'स्वाधीनता की बात'* करने वाले लोगों के प्रति एक तरह की चिड़चिड़ाहट, तिरस्कार और घृणा फैली। मुझे स्मरण है कि जर्मनी के बंटवारे के समय एक छोटी कहानी कही जाती थी। कहा जाता था कि पूर्वी जर्मनी और पश्चिमी जर्मनी के सीमान्तों पर दो कुत्ते मिले थे और उन्होंने एक-दूसरे की कुशल-क्षेम पूछने के बाद जिन्दगी के सम्बन्ध में अपने-अपने अनुभवों पर दार्शनिक भंगिमा में बातचीत शुरू की। पूर्व जर्मनी के कुत्ते ने कहा कि वह पेट भर खाता है किन्तु उसे भौंकने की आजादी नहीं है, पश्चिमी जर्मनी के कुत्ते का अनुभव यह नहीं था, उसने कहा, उसे भौंकने की पूरी आजादी है लेकिन पेट भर भोजन नहीं मिलता। लोग पूर्व जर्मनी की उपलब्धियों को प्रशंसनीय मानते थे। बहुत समय तक यह चुनाव आवश्यक हो गया था और मोहित करने वाला भी कि भूख और स्वाधीनता जैसे बुनियादी मूल्यों में से किसी एक को चुन लें। जिन्हें चयन करना है उन्हें दोनों में से एक ही का चयन करना पड़ेगा। दुनिया जैसे दो भागों में बंटेगी, एक में भूख के विरुद्ध संघर्ष करने वाले होंगे और दूसरे में पराधीनता के विरुद्ध संघर्ष करने

वाले। वंचित लोगों की सामान्य जिन्दगी इतनी त्रासदायक थी कि 'भूख' मानवीय मूल्यों से जुड़ गई और स्वाधीनता लम्बे समय तक 'आभिजात्य' की चिन्ता का एक विषय बनी रही, एक अनावश्यक और चुहल करने वालो का विषय।

सामाजिक दर्शन पर बातचीत करने वाले जैसे स्वाधीनता की बातचीत करने पर कुपित दृष्टि से देखे जाते थे, उसी तरह स्वाधीनता पर बातचीत करने वाले कृतिकारों की भी निन्दा होती थी। 'रचना की स्वाधीनता' का अभिप्राय सिर्फ इतना ही था कि कृतिकार दुनिया-भर में फैली हुई संकीर्णता, टुच्चाई और मन को तोड़ देने वाले कुकृत्यों में से सिर्फ कुछ को चुने—उन्ही कुछ को जो एकदम 'भूख' से जुड़े हैं। यह बुरी बात नही थी, न यह अब भी बुरी बात है। वंचित लोगों की पक्षधरता साहित्यकार की अपनी पक्षधरता है, वंचित लोगों का उल्लास कृतिकार का अपना उल्लास है। किन्तु वंचित लोगों के साथ-साथ कृतिकार की यह समझ अपराध नही कि आज की दुनिया जैसी बनी है उसमे 'भूख' भी एक राजनैतिक पक्ष है। इसलिए यह समझ सिर्फ अधूरी होगी कि 'भूख-मुक्ति' पराधीनता-मुक्ति है।

कृतिकार के लिए स्वाधीनता एक सपना है जिसे पाने के लिए उसने शब्द और स्वर जैसे अमूर्त, संश्लिष्ट तथा अनेक अर्थ-आयामी माध्यम चुने हैं। दोनों माध्यमों के जरिये वह रूप, रस, गंध, स्वाद, स्पर्श की सृष्टि को फैलाता है और इतनी अधिक फैलाने की आशा रखता है कि पूरी की पूरी दुनिया अनुभव की और उसके पार की दुनिया को नये सिरे से जान सके या कि आविष्कृत कर सके। अनुभवो की दुनिया के बीच रहना चाहे, वे व्यक्ति और व्यक्तियों, समूहों और समाज, इतिहास और परम्परा, लोकशास्त्र और धर्मशास्त्र के अनुभव हो, एक बनी-बनायी अनुभव की दुनिया के इर्द-गिर्द घूमना है जो एक पराधीनता भी है और दूसरी तरह का त्रास भी। इस पराधीनता के वृत्त से निकलना और त्रास-मुक्त होना यह स्वाधीनता की आविष्कृति है और एक रचनात्मक ऊर्जा का आवेश भी हमारी अपनी शताब्दि के संकट का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि बार-बार हमें रचनाकारो की स्वाधीनता का बुनियादी 'हक' छिन जाने का भय लगा रहता है यद्यपि यह स्वाधीनता सिर्फ अनुभवों के उलट-पलट और नये सिरे से उन्हें व्यवस्थित करने देने भर की है या कि अनुभवो को प्राथमिकता देने भर की। फिलहाल 'स्वाधीनता की रचना' का प्रभावशाली आन्दोलन स्थगित है और जिसे हमेशा के लिए स्थगित रखने के षड्यंत्र, इस या उस उपाय से, राज्य शक्तियां करती रहती हैं। आदमी के अनुभव की सृष्टि और उसके दायरे एक ही परिधि मे घूमते रहे, सृष्टि एक आयामी हो, यह पहले मंत्रों के द्वारा की गयी है और अब 'तंत्र शक्तियां' इतनी प्रचंड हो गयी है कि उन्होंने मनुष्य के अनुभवो की आविष्कृति तो दूर उसके उलट-पलट का अधिकार भी अपने हाथ में ले लिया है।

स्वाधीनता की रचना का काम सबकी दृष्टि में बहुत आवश्यक है, लेकिन यह चिन्ताजनक है कि सब यह आवश्यक मानते हैं कि वह स्वाधीनता उनके द्वार तक आ जावेगी। वे मन ही मन स्पष्ट हैं कि तंत्र उनकी स्वाधीनता को उनके घर तक छोड़ जायेगा। कृतिकार भी एक मर्यादित अंश में 'रचना की स्वाधीनता' चाहते हैं; उतनी स्वाधीनता भर कि जिसमे उनके अनुभवों का संसार नजर आये और वे सुरक्षा का अनुभव कर सकें। एक नयी तरह की शुरुआत और एक दूसरे किस्म की असफलता पुरानी शुरुआत और पुरानी सफलताओं से भिन्न किस्म की होती है।

जब तक स्वाधीनता की रचना का आवेश कृतियो मे नही आता और मैं क्षमा चाहता हूं कि मैं यह बताने मे असमर्थ हूं कि वह किस गणित से आ सकता है—तब तक भाषाए सिर्फ मुहावरे दुहराती रहेंगी और अनुभव के पुराने स्वाद आते रहेगे। लगभग सभी समाज रचनाएं अपनी सुरक्षा की तलाश मे हैं और इसलिए एक रोमांचकारी जिन्दगी और स्वाधीनता के खतरनाक प्रयोग बद हो गए हैं।

कृतिकार चाहे जितनी किलेबंदी करें, व्यवस्थाओं के लिए शोकसंतप्त हों; वैकल्पिक व्यवस्थाओं की तलाश करें, वे बुनियादी रूप में 'स्वाधीनता के अलमबरबाद' हैं। 'हैं' यानी कोई धर्मगुरुओं की जाति के नही—किन्तु वह उनका स्वभाव है। मछली के लिए पानी जैसे कोई दूसरी चीज नहीं है, कृतिकार के लिए स्वाधीनता उसी तरह की चीज है। उसी से एक नयी, सुखद और रोमांचकारी दुनिया की आविष्कृति संभव है।

# सृजन में परंपरा और आधुनिकता का संयोग

यह आलेख परम्परा तथा आधुनिकता जैसे शब्दों की परिभाषा न देकर प्रारम्भ कर रहा हूं यद्यपि वाल्टेयर ने कहा था कि चर्चा करने से पूर्व यह अच्छा हो कि हम शब्दों को परिभाषा दे दें। किन्तु परिभाषा का सबसे बड़ा संकट यह है कि वह शब्द के लचीले अर्थ-विस्तार को सीमित कर देती है और हमारा श्रम तथा आग्रह संदर्भो को समझने की अपेक्षा परिभाषा को सत्य प्रमाणित करने मे लग जाता है। इसलिए मैं परिभाषा न करके यह स्पष्ट करने का प्रयास करूंगा कि 'परम्परा' तथा 'आधुनिकता' जैसे महत्त्वपूर्ण शब्द किन-किन संदर्भो मे प्रयुक्त होते है और उनसे हमें कौन-कौन-सी उपलब्धियां हो सकती हैं।

सामान्यतया परम्परा और आधुनिकता जैसे शब्दो का प्रयोग अनेक सन्दर्भो में होता है। एक स्थूल संदर्भ काल का है: जब काल को विभाजित करने की चेष्टा में परम्परा को बहुत कुछ प्राचीन और आधुनिकता को वर्तमान के अर्थ में प्रयुक्त करते है। यह प्रयत्न कदाचित काल के दीर्घ विस्तार को एक साथ न समेट पा सकने की कठिनाई के कारण होता है। ऐसा विभाजन काल को सुविधा-पूर्वक देखने में सहायक होता है। इतिहास मे ऐसा काल-विभाजन मिलता है। अध्यापक इसी तरह काल को विभाजित करके विद्यार्थियों को पढ़ाते हैं। साहित्य का इतिहास इसी सुविधा के कारण काल-खण्डों में विभाजित है।

इन्हीं शब्दों को एक दूसरे सन्दर्भ मे भी प्रयुक्त किया जाता है जो अधिक सजगता और सार्थकता को लिए है। इस सन्दर्भ में जब परम्परा तथा आधुनिकता जैसे शब्दों का प्रयोग होता है तो प्रयोग करने वाला काल-विशिष्ट की मूल्यगत विशेषताओं का बोध कराना चाहता है। इस प्रसंग में जो कोई परम्परा अथवा आधुनिकता जैसे शब्दों का प्रयोग करता है—साभिप्राय करता है। उसका अभिप्राय होता है कि वह इन शब्दों की सहायता से केवल काल की दृष्टि से ही नहीं बल्कि गुण की दृष्टि से भी चुके हुए तथा काल की दृष्टि से ही नहीं बल्कि गुण की दृष्टि से तरोताजा और एकदम जीवित संदर्भो की व्याख्या, विश्लेषण और

शोध कर रहा है। आधुनिकता इस सन्दर्भ में एक विशेष मूल्य बन जाती है। उसे जीने वाला एक विशिष्टता का अनुभव करने लगता है। आधुनिकता को वह फिर आरोपित सत्य नही मानता बल्कि उसी के साथ जीने लगता है। इतनी गहराई और आस्था से जीने के कारण आधुनिकता उसके लिए नैतिक मूल्य बन जाता है। उसे प्रतीत होने लगता है कि आज की त्वरा, आज का संशय, आज का विघटन, मूल्यों का संक्रमण ठीक उसके अस्तित्व के बीच से बह रहा है, वह उसका कल्पित सत्य नही, जीवित सत्य है। ऐसी स्थिति मे परम्पराओं से उसकी आसक्ति छिन्न-भिन्न हो जाती है। परम्पराओं को वह झुठलाता और अस्वीकार करता है। आज को जीने के लिए, आज का प्रतिनिधित्व करने के लिए वह बहुत कुछ ऐसा करता है जो चौका देने वाला, असंस्कार वाला, विकृत लग सकता है लेकिन उनको जो आधुनिकता को मूल्य की तरह स्वीकार नही करते।

तीसरे सन्दर्भ में 'परम्परा' और 'आधुनिकता' शब्द निन्दा और प्रशंसा के रूप मे प्रयुक्त होते है। इस प्रसंग में परम्परा एक गतिहीन और स्थिर समय का बोध कराने वाली तेजहीन-सी कोई वस्तु होती है तथा जिसके साथ जीने वाले मोहाविष्ट-से जीते है, दृष्टि नही बदलते वल्कि अपना हानि-लाभ भी नही देखते। आधुनिकता का यहा अर्थ होता है वह सूझ-बूझ जो व्यक्ति को उपयोगी बनाए रखती है, कम से कम समय के साथ-साथ जीवन मे कुछ फेरबदल लाने में सहायक होती है—स्पष्ट ही है कि यहा आधुनिकता शब्द का प्रयोग उपयोगिता और इसलिए लौकिक दृष्टि से प्रशंसा भाव के साथ जुड़ा है।

एक अन्य प्रसंग मे आधुनिकता और परम्परा को आत्यंतिकताओं के सन्दर्भ मे देखना अनुचित माना जाता है। काल इस अर्थ मे एक अविच्छिन्न प्रवाह है, एक ऐसी समग्रता जिसे खंडित नही किया जा सकता। काल जैसे अनेक कक्षो वाली इमारत है जिसके एक कक्ष का द्वार दूसरे कक्ष में खुलता है और फिर दूसरे का तीसरे मे। परम्परा इस दृष्टि से गतिहीनता नही किन्तु गत्यात्मकता है; परम्परा और परम्परावादिता पर्यायवाची नही हैं। परम्परा को इतने व्यापक सन्दर्भ में काम लेने वाले व्यक्ति आधुनिकतावादियों की निन्दा करते है क्योंकि वे व्यर्थ ही बाल की खाल निकालते हैं।

सामाजिक सन्दर्भ मे परम्परा और आधुनिकता को लेकर जो मतभेद और विशिष्ट आग्रह हैं वही साहित्यिक संदर्भ मे हैं क्योंकि एक प्रकार से समाज और साहित्य दोनों जुडे है। किन्तु साथ ही यह कहना अनुचित नही होगा कि सामाजिक संदर्भ में इन शब्दों को लेकर जो तनाव है वह इतना स्पष्ट, इतना उग्र और इतने प्रभावशाली रूप से प्रगट नही होता जितना साहित्य में, क्योंकि वहां कृतियों के माध्यम से सब कुछ पढ़ लिया जाता है और सब को यह विदित है कि वह कितना प्रभावशाली होता है। यह प्रभावशालिता ही कदाचित उग्र विवादों और भय

और संकट का कारण होती है। यह कहना विषयान्तर हो तो भी कहने की आज्ञा दीजिए कि यों साहित्यकार से कौन डरता है, और उसकी प्रभविष्णुता स्वीकारता है, लेकिन क्या वह सभी की सबसे अधिक दृष्टि आकर्षित नहीं करता? क्या उसी के प्रभाव में लोग बचने-बचाने की चेष्टा नहीं करते? यह चेष्टा और दृष्टि-आकर्षण इस बात का प्रमाण है कि सामाजिक संदर्भों में जो सत्य धीरे-धीरे संचरित होते है वे साहित्य के माध्यम से तुरंत और प्रभावशाली रूप में दृष्टि बांध लेते है। जो हो। मैं आपके समक्ष यह निवेदन कर रहा हूं कि परम्परा और आधुनिकता को लेकर साहित्यकारों और साहित्यकारों के बीच, साहित्यकारों और शिक्षित पाठकों के बीच, साहित्यकारों और जनता के बीच तनावपूर्ण स्थितियां हैं। ये स्थितियां हमारे देश में भी है और अन्यत्र भी। सभी देश संक्रमण की स्थितियों में जी रहे हैं। काल के स्वभाव में संक्रमण है लेकिन जो त्वरा और साथ ही जो अनिश्चयता आज है सभवतः कभी नहीं थी। ऐसे काल में सब झकझोरे गए हैं लेकिन सब कृतिकार नहीं है इसलिए अव्यक्त, अप्रगट हैं, दायित्वमुक्त हैं, किन्तु साहित्यकार झकझोरा गया है, व्यक्त है इसलिए दायित्वशील है। इस दायित्व के कारण ही वह सभी समय और विशेष रूप से संक्रमण के संकट को सब से अधिक महसूस करता है। यों सभी काल में साहित्यकार से अनेक अपेक्षायें की गई है और उसमे कही अधिक अपेक्षायें आज की जा रही है, किन्तु प्रतीत होता है कि साहित्यकार अब उन अगणित अपेक्षाओं को पूरी करने मे स्वयं को असमर्थ पा रहा है, उसे यों लगता है कि सृजन को गढ़े-गढ़ाये मूल्यों के लिए अर्पित कर देने की अपेक्षा यही श्रेष्ठ है कि वह अपनी आत्मा के बीच बहने वाले भय, संताप, आक्रोश, असमर्थता, निरर्थकता, निरादर या कि प्रेम, सम्पन्नता और सुख को समर्पित हो। मैं इस विस्तार में नहीं जाना चाहता कि वह ऐसा अनुभव क्यों करने लगा है, लेकिन मैं इतना अवश्य निवेदन करता हू कि दूसरों के या कि समूह के ढलेढलाये और भोगे हुए सत्यो की अपेक्षा अपने अस्तित्व के बीच से बहने वाले, अनगढ, बेडौल और कदाचित आकृति लेते हुए सत्य को कृति में उतारना अधिक उचित है। इस दृष्टि से आधुनिकता आज के कवि के सृजन में अधिक सहायक होगी क्योंकि वही तो उसके सबसे अधिक समीप का फल है। कहते है कि तुरन्त तोड़े हुए फल का स्वाद विलक्षण होता है इसलिए यह जो समय का फल है जो सबमें समीप है, उसका स्वाद विलक्षण होगा और वह सृजन को वैशिष्ट्य देगा।

सृजन में वैशिष्ट्य आना ही चाहिए। सृजन मूल्यवान ही तब माना जाता है जब वह अपने पूर्ववर्तियों और निकटस्थ पूर्ववर्तियों से विशिष्ट हो। सृजन में यह विशिष्टता तब ही आती है जब प्रवहमान सत्यों को, अपने इर्द-गिर्द घिरी दर्पदीनता, आस्था और अनास्थाओं के प्रसंगों को समाहित करने की सजगता

कृतिकार में ही। इस संदर्भ में परम्परावाद को हम कितनी ही लचीली व्याख्या क्यों न करें, सृजन को मूल्यवान नहीं होने देती, क्योंकि वह कृतिकार को एक उपकार के विशेष बोझ से दबाए रहती है और आग्रह करती है कि यात्रा के सब छोर पर खड़े होकर वह मुड़ कर देख लें।

इस दृष्टि से यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या परम्परा अथवा आधुनिकता रचना-प्रक्रिया के आवश्यक अंग हैं? ऐसा प्रश्न मेरे मन में बार-बार उठा है और उसे मैंने मेरे अनेक मित्रों से बार-बार पूछा है। प्रश्न के उत्तर में अनेक बातें कही गई हैं, लेकिन मुझे सबसे अधिक आश्वस्त करने वाली बात यह लगी है कि सब कृतिकारों की रचना-प्रक्रिया अपनी-अपनी तरह की होती है। दरअसल प्रत्येक कृतिकार अपनी आस्था, अपने विश्वास, अपनी प्रश्नाकुलता को अपने ही काल के संदर्भ में जिएगा, अप्रत्यक्ष रूप से ही आधुनिकता को अपनी रचना-प्रक्रिया बना लेगा। इसी प्रकार जो कृतिकार अपने विश्वासों को पूर्वजों की पराम्परा के स्थापित सत्यो के सदर्भ में जिएगा, तो कुछ दूसरे मूल्यों को अप्रत्यक्ष रूप से अपनी रचना-प्रक्रिया के साथ जोड़ लेगा। यह कहना कि रचना-प्रक्रिया कोई निरपेक्ष मूल्य है, उचित प्रतीत नहीं होता। ऐसा कभी-कभी इसलिए कह दिया जाता है कि हम रचना-प्रक्रिया को एक रहस्यात्मक स्थिति देना चाहते है और उसे वैयक्तिक प्रयास मानने से डरते है। यदि सब कृतिकारों की रचना-प्रक्रिया एक-सी नही होती तो आज की अनास्था, विकृति या कि आज के सत्य, आज की वास्तविकता को जीने का उपक्रम रचना-प्रक्रिया के साथ बाधा जा सकता है और मुझे लगता है कि ऐसी रचना-प्रक्रिया से उद्भूत कृति महत्त्वहीन नही होगी।

दूसरा प्रश्न है कि नितान्त आज के प्रश्न, संशय-ग्रस्तता, निरन्तर गत्यात्मकता, विभक्त-मन की प्रश्नाकुलता क्या समाजोपयोगी है? शायद यही प्रश्न है जो सबसे अधिक व्यक्तियों को सबसे अधिक व्याकुल करता है। काव्य को जनोपयोगी होना चाहिए और शायद इसीलिए मानवीय परम्पराओं के संरक्षण का दायित्व भी उसे ग्रहण करना चाहिए। आप यदि सुस्थिर मन से देखें तो 'जनोपयोगी' और 'मानवीय परम्पराओं के संरक्षण' जैसे शब्द और शब्द-खड आपको बड़े पेचीदा, बड़े लचीले और वैयक्तिक रुचि के प्रसंग में काम लिए जाने वाले लगने लगेंगे। उनके साथ आपको राजनैतिक और आर्थिक अभिप्राय जुड़े नजर आ जाएंगे। इसलिए एक तो यही कठिनाई है कि जिन जनोपयोगिता और 'जिन मानवीय परम्पराओं के संरक्षण' के लिए आप कवि से आग्रह कर रहे हैं वे हैं क्या? दूसरा प्रश्न यह कि क्या आधुनिक संदर्भ को जीने वाला कृतिकार वस्तुतः जन-विरोधी है? मैं सोचना चाहता हूं कि अधिक से अधिक कृतिकार का काम मन की और मन के बाहर फैली हुई आकृतिहीनता को हो सके तो थोड़ी आकृति

देना है। आज की सबसे बड़ी जनसेवा यही है कि कृतिकार यह दृष्टि दे दे कि सबके प्रश्नों के उत्तर एक नहीं हैं, वे नये और अपने रास्ते खोजें।

अंतिम प्रश्न यह है कि आज की आधुनिकता क्या कृतिकार और पाठक के बीच खाई नहीं बनाती? आधुनिकता के नाम पर क्या कृति में जटिल, कठिन और ऊटपटांग तकनीकी प्रयोग नहीं हो रहे हैं? क्या कुछ फैशन-परस्ती नहीं आ गई है? इसके उत्तर में विनम्रता से इतना ही निवेदन है कि कठिनाई कवि भी पैदा कर सकता है और पाठक भी। पाठक कठिन कृतियां पढ़ने का अभ्यस्त हो जाय तो बुरा नहीं है क्योंकि कृति के रस को ग्रहण करने के मार्ग सरल नहीं हैं। मुझे यह भी कहने में संकोच नहीं है कि अब कृतियों के सरल होने की आशा कम है क्योंकि जीवन के सभी संदर्भ कठिन और पेचीदा हो रहे है।

फैशन-परस्ती का आक्षेप किसी सीमा तक उचित है। फैशन-परस्त कृति आधुनिक नहीं होगी, क्योंकि तब वह आज के सत्य को मूल्य की तरह नहीं एक लबादे की तरह ओढ़े रहेगी। वैसी कृतियां छंट जाएगी।

# साहित्य में प्रगतिशीलता की तलाश

इस शीर्षक से दो अर्थ ध्वनित हो सकते हैं। एक का अभिप्राय यह हो सकता है कि साहित्य के मूल्यांकन के लिए जो पैमाना काम मे लाया जाय वह प्रगतिशील होना चाहिए। प्रायः इस प्रकार की चर्चा सुनने को मिलती है कि साहित्य जिस शक्ति और गति के साथ लिखा जाता है उस शक्ति और गति के साथ उसका परख करने वाला शस्त्र नही बदलता। इसका परिणाम यह होता है कि सृष्टि तो बदल जाती है किन्तु, विवेचना का दृष्टिकोण न बदलने के कारण साहित्यिक कृति के साथ पूरा-पूरा न्याय नही हो पाता, उसका आस्वादन अपूर्ण-अधूरा ही रह जाता है। ऐसी स्थिति मे बदलते हुए कृतित्व के साथ साहित्य की विवेचना के मूल्य भी बदलते रहने चाहिए। अनेक बार प्रगतिशील शब्द का अर्थ हम इन 'बदलती हुई चेष्टाओं' के निमित्त काम में लाते हैं।

इस शीर्षक से दूसरा अभिप्राय यह निकलता है कि साहित्य की प्रभविष्णुता के लिए उसका प्रगतिशील तत्त्व संयुक्त होना अत्यन्त अनिवार्य है। साहित्य के जितने भी उपादान हैं यथा—कल्पना, भाव, भाषा, ध्वनि, अर्थ-सार्थकता और ऐसी ही अन्य अनेक वस्तुएं, उनमें निरन्तर गत्यात्मकता आवश्यक है। इस गत्यात्मकता के अभाव मे साहित्य तो साहित्य रहता है, किन्तु वह मानव चेतना की एक विशिष्ट काल द्वारा एकत्रित की गई प्राण-शक्ति को नही समेट पाता। इसलिए यह साहित्य के भाग्य का प्रश्न है कि वह अपने उपादानो को इस प्रकार सहेजे कि उसे प्रगतिशील कहा जा सके।

जो हो, कोई भी अर्थ-ग्रहण किया जाय, इतना तो जैसे दोनों से ही ध्वनित होता है कि गति अथवा परिवर्तन की एक शक्तिशाली आकाक्षा का उदय हममे हुआ है और हम कभी साहित्य के मूल उपादानो को परख रहे हैं और कभी साहित्य को परखने वाले मूल्यों को। दोनों मे हमारी एक ही कामना परिलक्षित होती है कि हम साहित्य की प्रभविष्णुता बढ़ाने की चिन्ता कर रहे हैं।

इस निबन्ध मे सबसे अधिक शक्तिशाली विवादास्पद शब्द या यों कह लीजिए

आपत्तिजनक शब्द प्रगतिशील है। कई साहित्य-कर्मियों और विवेचकों का यह आग्रह है कि 'साहित्य' शब्द स्वयं पर्याप्त है, वह स्वयं इतना विराट् है कि मनुष्य और युग की समस्त चेष्टाओ को समाविष्ट कर लेता है। इसलिए प्रगतिशील शब्द सर्वथा निरर्थक है। 'साहित्य' शब्द से यदि इस विराट् शक्ति का बोध होता है तो मुझे कोई आपत्ति नही है कि प्रगतिशील शब्द का प्रयोग उसके साथ न हो, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि शब्द एक ही संदर्भ और एक ही प्रकार की अर्थ-व्यंजना के लिए काम मे नही लाए जाते, काम मे शायद लाए भी नही जा सकते। इसलिए कभी उनकी नई शक्तिबोध के लिए, कभी अर्थ को अपेक्षाकृत व्यापकता देने के लिए, कभी परिवर्तित होती हुई सामाजिकता की अवगति के लिए और कभी समय की शक्ति को प्रतिध्वनित करने के लिए या तो हम शब्द का संस्कार करते हैं या शब्द के साथ विशेषण लगाते है या कभी-कभी नये शब्द को नये संदर्भ से बैठा कर उसको विलुप्त प्राण-शक्ति को चमत्कृत कर देते हैं। ऐसा ही कुछ मनोरथ साहित्य के साथ प्रगतिशील शब्द का प्रयोग करने वालों का होता है। साहित्य कहने मात्र से जब उनका काम नही चलता तब वे किसी-न-किसी प्रकार का विशेषण लगाते है। वह विशेषण किसी उदित हुई शक्ति का बोध देता है। वही बोध हम प्रगतिशील शब्द को साहित्य के साथ जोड़कर प्राप्त करते है। जब आलोचक साहित्य के साथ प्रगतिशील शब्द को व्यवहार करता है तब वह जानता है कि जैसे कौन-सा साहित्य प्रगतिशील नही है और यह भी जानता है कि क्यो एक विशिष्ट भंगिमा का साहित्य प्रगतिशील है? वह तुलना करता है, वर्गीकरण करता है, साहित्य और साहित्यकार का स्थान निर्धारित करता है। ऐसा सदा से होता चला आया है और साहित्य-इतिहास में होता चला जायगा और मेरा विश्वास है कि ऐसा होना भी चाहिए जिससे हमे बोध होता है कि श्रेष्ठ साहित्य की परम्परा मे कौन-सा कृतित्व कहा है और क्यों है? जैसे हम मनुष्य कह देने से तृप्त नही होते, उसके साथ हमारे शब्द-कोष में नाना प्रकार के जो शब्द विद्यमान हैं उन्हे साभिप्राय और मुक्त होकर काम में लाते हैं, उसी प्रकार मात्र साहित्य कह देने से जब काम नही चलता तब हम किसी विशिष्ट अभिप्राय को व्यक्त करने के लिए कहते हैं प्रगतिशील साहित्य (Progressive Literature) और दूसरे किसी प्रकार के साहित्य को कहते हैं ह्रासोन्मुखी साहित्य (Decadent Literature)। इस प्रकार का विभाजन जाने-अजाने आलोचक भी और पाठक भी करते हैं क्योकि स्वाध्याय की प्रक्रिया में तुलना चलती ही रहती है, उत्कृष्ट, निकृष्ट, प्रगतिशील, ह्रासोन्मुखी यह वर्गीकरण भी होता जाता है।

हमें देखना चाहिए कि प्रगतिशील साहित्य और ह्रासोन्मुखी साहित्य को हम किन कारणों से वैसा घोषित करते हैं। एक आधार तो यह हो सकता है कि हम नैतिक मान्यताओ के आधार पर यह घोषणा करें कि अमुक मान्यताओं

और नैतिक मूल्यों का समर्थन करने वाला साहित्य प्रगतिशील है और अमुक मान्यताओ और नैतिक मूल्यों का समर्थन करने वाला साहित्य ह्रासोन्मुखी है। यूरोप के समर्थ समीक्षा-शास्त्री और कृतिकार टी० एस० इलियट ने यह घोषणा की है कि साहित्य की समीक्षा 'क्रिश्चियन-थिओलोजी' (ईसाइयत) की मान्यताओं को ध्यान में रखकर की जानी चाहिए, उन्होंने बलपूर्वक कहा है कि अब हमें यह देखना ही होगा कि हम कृतित्व को अधर में न लटका रहने दें। हम चयन करें और कृतित्व के मूल्यांकन के लिए क्रिश्चियन नैतिकता को मुख्य आधार बनायें। धर्म के आग्रह से साहित्य के मूल्यांकन की इस प्रक्रिया से कई आलोचक चिन्तित हो उठे हैं, तो कई नव-धर्मवाद से प्रभावित भी। इलियट के एक आलोचक ने अपनी 'पुस्तक काव्य और नैतिकता' (Literature & Morality) मे इलियट की निन्दा करते हुए कहा है कि ईसाइयत के नैतिक मानों पर सभी काव्य-पुस्तक कदाचित् पूरी-पूरी न उतरें और फिर भी वे श्रेष्ठ बने रहें। इसी प्रकार के नैतिक आग्रह को स्वीकार करते हुए हिन्दी-साहित्य में रामचन्द्र शुक्ल ने तुलसी और सूर का तुलनात्मक अध्ययन किया है और सूर की समस्त काव्य-शक्ति को इसीलिए श्रेष्ठतम नही माना है क्योंकि तुलसी की तरह उन्होंने लोक-कल्याण और लोकानुरंजन को कृष्ण-काव्य में उद्घाटित नही किया है। राम शील, शक्ति और सौन्दर्य के प्रतीक पुरुष है और उनको आश्रय मानकर तुलसी ने लोकानुरंजन के लिए, लोक-कल्याण के लिए जो काव्य-रचना की वह श्रेष्ठतम है। इसी सीमा के कारण श्री शुक्लजी उभरती हुई नई काव्य-पीढी और नये कृतित्व की निन्दा ही करते रहे, क्योंकि उनके मतानुसार वह काव्य लोक-कल्याणकारी और लोकानुरंजन की शक्ति से वंचित था और इसलिए ह्रासोन्मुखी था। धर्म का यही रूप नये प्रकार से मार्क्सवादी आलोचना मे उभरता हुआ नजर आता है। मार्क्स ने वैसे साहित्यालोचन के लिए किसी विशिष्ट दिशा का प्रावधान नही किया है, किन्तु प्रकारान्तर से उन्होने धर्म, साहित्य, नैतिकता और चेतना पर बहुत कुछ लिखा है और उन सबका यह निष्कर्ष निकलता है कि सर्वहारा राज्य की स्थापना के लिए कठिन अनुशासन, कठोर कर्म, अनवरत साधना की आवश्यकता है। सभी को इस साधना, अनुशासन और कर्म के नियंत्रण में रहना आवश्यक है। उस नियंत्रण से साहित्यकार भी मुक्त नही है। इस नियंत्रण में साहित्यकार पर सामाजिक दायित्व और वह भी एक विशिष्ट राजतंत्र को पनपाने वाला सामाजिक दायित्व इस प्रकार उभारा गया कि वह भी धार्मिक मान्यताओं ही की तरह गूढ हो गया। प्रगतिशीलता का अर्थ था साम्यवादियों को शक्तिशाली बनाने वाला साहित्य। हिन्दी साहित्य मे इस प्रकार की विचार-धारा को प्रबुद्ध रखने के लिए 'प्रगतिवादी' पत्रों को जन्म मिला। कुछ समय के लिए प्रगतिवादी प्रगतिशील दोनों जैसे समानार्थी हो गए। साहित्य के

मूल्यांकन की जो शैली प्रगतिवादियों ने दी उसमें कृतित्व का मूल्यांकन न होकर कृतिकार का मूल्यांकन होने लगा और कृति की क्षमताओं का उल्लेख करने के स्थान पर फतवे दिए जाने लगे। किन्तु, ये मान्यतायें भी थोड़े ही दिनों में थोथी हो गईं और यह प्रतीत होने लगा कि साहित्य के मूल्यांकन के लिए किसी विशेष धर्म-पंथ या कि राजनीति की रुढिवादी नैतिकता और राजनीतिक मतवादी सकीर्णताओं से आक्रान्त विचार-सरणियां दोनों ही पूरी नही पड़ती।

तो क्या साहित्य को मूल्यांकित करने वाली किसी नई सरणी की खोज ही नही की जाय? क्या प्राचीन रसवादी मान्यताओं या गुण-दोष विवेचन-पद्धति अथवा प्रभाववादी शैली ही को स्थिर कर लिया जाय। सौभाग्य से ऐसा नही हुआ। ज्ञान की दिशाओं मे जो नये पंथ खुले उन्होंने मनुष्य की शक्ति को नये-नये अभिप्रायो मे, नये-नये प्रसगों मे समझा, उसकी सहायता साहित्य की शक्ति और सौन्दर्यबोध को समझने मे काम आई। एक सम्पूर्ण कृति के मूल्यांकन के लिए सबसे पहली तो यह सिद्धि प्राप्ति हुई कि सृजन प्रक्रिया को समझा जाय। सृजन-प्रक्रिया को समझने का अभिप्राय है कृतिकार की रचना-शक्ति को समझना और उसकी कृति को स्वतंत्रता से मूल्यांकित करना। ज्ञान की इस नई खोज ने समग्रता को भी जन्म दिया। अभी तक यूरोपीय या चिन्तन-परम्परा के अनुसार जो खंडित परम्परायें रही उन्हें समग्रता के साथ जोड़ा गया।

यह समग्रता प्रगतिशील मूल्यों की जननी है। जितना अधिक इसे खोजा जायगा उतना ही प्रगतिशील साहित्य की समृद्धि होगी।

# राजस्थान की हिन्दी कविता के प्रतिमान : एक भूमिका

19वीं शताब्दी में राजस्थान में हिन्दी का काव्योद्भव और राजस्थानी का पुनरोत्थान साथ ही साथ चलता है। भाषाओं का यह सहगमन इतिहास की सद्भावनापूर्ण और बड़ी घटना है। 19वीं शती में राजस्थानी का पुनर्जागरण और पुराने ग्रन्थों की शोध-खोज मुझे स्वतंत्रता-संग्राम के विस्तृत कार्यक्रम का एक अभिन्न अंग मालूम होती है, क्योंकि उस समय प्रत्येक प्राचीन ग्रंथ के प्रकाशन का यह अभिप्राय था कि हम पूर्वजों का यश आलोकित कर रहे हैं जिसे कुछ तो इतिहास के अंधेरे ने और कुछ अंग्रेजी शासन के स्वार्थ ने फैलने नहीं दिया था। उस समय हिंदी के प्रसारण का स्पष्ट अभिप्रेत भी यही था कि राष्ट्र अपनी भावनात्मक एकता को प्रकट करने के लिए जिस नई भाषा को जन्म दे रहा था उसमें राजस्थान की साझेदारी है। इस प्रकार राजस्थानी का पुनः उत्थान और हिन्दी का प्रसार एक ही भावना से आलोकित होने वाली दो प्रकाश-वर्तिकायें थीं जो दो दिशाओं में जलकर भी अंधेरे में ही लड़ रही थीं। भारतीय भाषाओं के अस्तित्व की घोषणा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने बड़ी दृढ़ता के साथ की। लिखा, "अपनी भाषा की उन्नति सभी प्रकार की उन्नति की धात्री है, जब तक उसका अभ्युदय नहीं होगा हृदय की पीड़ा जाएगी नहीं।"[1]

भारतीय भाषाओं को जीवित करने का यह आग्रह अंग्रेज लेखक मेकॉले के उस उद्धत वक्तव्य की प्रतिक्रिया थी जिसने संपूर्ण भारतीय वाङ्मय को अंग्रेजी दर्शन और विज्ञान के समक्ष अकिंचन सिद्ध करने का प्रयत्न किया था। किन्तु इस स्वर ने स्वतंत्रता-संग्राम को बड़ी स्फूर्ति दी और इस जागरण के साथ ही जैसे भारत की मूर्च्छित आत्मा को नव-रसायन प्राप्त हो गया। संपूर्ण प्राचीन को अद्भुत अध्यवसाय के साथ खोजा गया, भारत को विलुप्त परम्पराओं का संस्कार

1. निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटै न हिय को सूल ।।

हुआ और यह अनुभूति सजग होने लगी कि "हम उन्ही पूर्वजों (आर्यो) की सन्तान हैं जिन्होंने हंसते-हंसते इतिहास के प्रवाह को देखा है और सब तरह की आपदायें, आंधियां और विप्लव की यंत्रणाओं को सहा है। हमारे ये पूर्व-पुरुष पवित्र चरित वाले, परम शक्तिशाली किंतु विनम्र और परदुःखकातर जन थे। वे दान के लिए संचित करते थे। अतिथि उनके देव थे, सत्य और तेजस्विता को उन्होंने हृदय में स्थान दिया था। वे कृतसंकल्प थे और अपनी प्रतिज्ञा पर सहज न्योछावर होना जानते थे।[1] इसी स्वर को राजस्थान के वरिष्ठ कवि 'नवरत्न जी' ने अनुगुंजित किया। लिखा "हे आर्य जाति ! तू ही तो वीरता के तत्त्व को जानती है, क्योकि तेरा पवन (वातावरण) किसी को भी परमवीर बना देता है। क्या यह तेरा पुण्य नही कि तूने लक्ष्मी-सी युद्ध-वीर, मां अहिल्या-सी दान-वीर और मीरा-सी प्रेम-वीर को जन्म दिया। राजा शिवि जैसे दया-वीर को किसने धन्य किया ?

जिसे अविश्वास हो वह संपूर्ण इतिहास को ढूंढ़ ले और साख दे कि तूफानी शताब्दियों के बीच इस गरिमा से कौन जिया है ?[2] इसी कवि ने एक दूसरे छन्द में जीवनार्पण के लिए प्रेरित करते हुए लिखा है कि "स्वाति बूंद, जल-स्रोत और सुरभि-युक्त फूल की तरह जिओ। क्षण-भर ही सही पर ऐसा क्षण जो दूसरों के लिए है और इसीलिए विराट् है। तुम बून्दें हो तो क्या ? तुमने चातक की प्यास बुझाई है। तुम नन्हे-से जल-स्रोत तो हो पर तुम्ही ने श्रमाहत पथिक को विश्राम देने का पुण्य अर्जित किया है। सुकुमार फूल होकर भी अनन्त सुरभि वितरित करने का यश तुम्हें प्राप्त है। तुम सब लघु होकर भी विराट हो क्योकि तुमने आत्मार्पण किया है।" देश के मर्मार्पित होने की इस कामना को अनेक कवियों ने रचना का माध्यम बनाया। न मात्र कविता में ही बल्कि कहानियों और उपन्यासों में भी यही विदग्धता परिलक्षित होने लगी। विदेशी शासन के प्रति

1. कवि जयशंकर प्रसाद : 'भारतवर्ष' शीर्षक कविता की अन्तिम कतिपय पंक्तियां।
2. कौन महारानी लक्ष्मी बाई सा था युद्ध वीर ?
कौन माता अहिल्या-सा कहीं दान वीर था ?
कौन प्रेम मतवाली मीरा-सा था धर्म वीर ?
कौन शिवि का-सा विश्व बीच दया वीर था ?
जाकर विलोक जाति-जातियों का इतिहास
आर्य-जाति ! तेरे जैसा किसमें खमीर था ?
तू ही एक मात्र वीरता के तत्व जानती थी,
तेरे तो पवन से हा होता महावीर था।

श्री जयनारायण व्यास की एक आक्रोश-युक्त कविता दृष्टव्य है।[1] श्री सुमनेश जोशी स्वातंत्र्य संग्राम के प्रमुख अग्रणी कवि थे।

किन्तु, स्वातंत्र्य-संग्राम के समय लिखी हुई कविता के सम्बन्ध में यह सम्मति बना लेना कि उसका एक मात्र स्तर आक्रोश था, अधिक औचित्यपूर्ण नहीं होगा। सत्य तो यह है कि स्वातंत्र्य-संग्राम के समय लिखे हुए काव्य में अनेक मनोदशाओं का अंकन हुआ था। क्योंकि वस्तुतः यह संघर्ष एकान्त राजनैतिक प्रभुत्व से मुक्त होने भर का संघर्ष नहीं था, बल्कि व्यापक अर्थ में 'मानवीय स्वातंत्र्य' के नये आयाम तलाश करने का शुभारंभ था। इस आकृतिहीन मानवीय स्वातंत्र्य को आकृति देने की चेष्टा में ही तो इस काल के कवि ने एक ही साथ अंतरात्मा के अनेक स्वर गूंथे थे। कभी-कभी यह आश्चर्य होता है कि अभी-अभी जो कवि देश की उद्दाम आनंदित के गीत लिख रहा था वही सहसा मानवीय मूल्यों की गहरी खोज में कैसे रत हो गया? दो क्षण पूर्व जो सामाजिक न्याय, स्वातंत्र्य और समता की अभ्यर्थना कर रहा था वह दो क्षण पश्चात इतना अन्तर्मुखी कैसे हो गया कि उसे प्रिय के केश-पाश में हरसिंगार के पुष्प-गुच्छ लगाने के अतिरिक्त कुछ करना शेष ही नहीं रहा?

ऊपर-ऊपर से ये सब जैसे विरोधी प्रकृति के तत्त्व दृष्टिगत होते हैं किन्तु कवि इन्हें इन्द्रधनुष की तरह धारण करता है। वास्तविकता तो यही है कि मानवीय स्वातंत्र्य की आकृति बनाने वाले किसी एक दिशा, किसी एक रंग, किसी एक मत अथवा किसी एक संभावना को समर्पित नहीं होते बल्कि वे उस स्वप्न-द्रष्टा की तरह होते हैं जो एक मादक और रूमानी स्वप्न को देखने लगते

1. बाकी मत रख खूब सता ले,
खूब दिखा दे अपना पशु बल।
निर्बल का बल देख रहा है
तेरे सब कुकृत्य को प्रति-पल।।
अन्न-विहीन उदर की आहें,
दावानल-से बन कर भीषण।
अभिभूत कर देगी उनको,
जो दीनों का करते शोषण।।
कल ही तुम पर गाज गिरेगा।
तेरा सभी समाज गिरेगा।
तख्त गिरेगा ताज गिरेगा।
नहीं रहेगी तेरी सत्ता।
बस्ती तो आबाद रहेगी।
जालिम तेरे सब जुल्मों की।
उसमें कायम याद रहेगी।

हैं और देखते ही रहते हैं। इसी मानवीय स्वातंत्र्य की रचना करने का संकल्प लेने के कारण वे जिस उत्कटता से देश को मुक्त करने का संघर्ष लड़ते हैं उसी उत्कटता से वे सामाजिक रूढियों की कारा को क्षत-विक्षत कर देने का संकल्प ग्रहण करते हैं और ठीक उसी उत्कटता से वे नारी के प्रति समर्पित होना चाहते है या व्यक्ति-प्रतिष्ठा के लिए अपनी वाणी का निर्बाध उपयोग करने के अधिकार को प्राप्त करते हैं। यह तथ्य कभी-कभी दृष्टि-ओझल होने के कारण काव्य-रसज्ञ अपने प्रिय कवियों के साथ भी अनेक बार अन्याय कर जाते हैं। जो हो, इस दिशा मे अभी इतना भर अलम् होगा कि इस काल और काव्य-वैशिष्ट्य का प्रतिनिधित्व करने वाले कुछ कवि, जो इस संकलन मे है, उन्हे इस वक्तव्य के संदर्भ मे देख सकें। संकलन के स्वर्गस्थ-कवि श्री ईश्वरचन्द्र 'रत्नाकर' की चारों कविताओं में यह भाव-व्याप्ति दृष्टव्य है। 'उच्छ्वास' कविता में वे उन श्रेष्ठ मानवीय मूल्यों को घोषित करते है जो मनुष्य का न जाने किस काल का सुख-स्वप्न है।[1]

इसके बाद 'गीत' में वह तन्मयता है जिसे रहस्यमय और व्यक्ति-धर्मी कहना अधिक उपयुक्त होगा।[2] यही भाव फिर गहरी रहस्यमयता से आवृत्त हो जाता है।[3]

क्रान्ति और रूमानियत के तादात्म्य का स्वर सुधीन्द्र के समस्त काव्य मे विलक्षणता के साथ मुखरित हुआ है। 'जौहर' और 'शंखनाद' से प्रारंभ करने

1. मानवीय मूल्य

बहे अंतर से हो उद्भूत
न्याय निर्झर की निर्मल धार
प्राप्त कर जन्म-सिद्ध अधिकार
सभी हों, सुधी, स्वतत्र उदार
बने यह शुचि वसुधैव कुटुम्ब, सत्य, शिव, सुन्दर का आभास।
जननी! तू आज मुझे बन जाने दे, तेरे उर का उच्छ्वास॥

2. एकान्त तन्मयता

चेतना मेरी कहो प्रिय! एक तेरा स्मरण स्पन्दन
क्षीण आशा ज्योति लेकर जल रहा निर्धूम जीवन
स्नेह का दे स्पर्श कर दे आज निर्मल दीप ज्योतित
दूर जाना, पथ, अपरिचित।

3. अनन्त रहस्य

रागनी बन आत्म-विस्मृति की अधर पर लास करता,
हो गया जाग्रत मधुर सा स्वल्प क्षण में प्रखर जीवन
सजग कवि के लोचनों से ज्योति को लेकर उघारी
उस अनन्त रहस्यमय की, दिव्य-श्री मैंने निहारी
('परिणति' शीर्षक कविता से)

वाले कवि की 'अमृत-लेखा' तक की यह यात्रा अन्तर्मन की यात्रा ही है जो विस्तारकामी है।

देश-भक्ति, समाज-रचना, दर्शन की जिज्ञासा, स्नेह के अपरिसीम बन्धन, नारी का स्पर्श और नून-तेल-लकड़ी सब कुछ सत्य है और सब कुछ चाहिए भी, किन्तु जो अस्तित्व को अर्थ देता है वह क्या है? यही सनातन प्रश्न 'अमृत-लेखा' का मूल स्वर है। किन्तु, इस सबके बीच भी बार-बार देश के दासत्व की पीड़ा उभर आती है। दासत्व के जीवन की अकिंचनता कवि को क्रान्ति के लिए तत्पर करती है[1] किन्तु इस व्यथा के साथ फिर वह जीवन का प्रश्न आ जाता है।[2]

इस तरह एक इन्द्रधनुष है जिसमें सब रंग हैं—पराधीनता से मुक्त होने की उद्दाम आकांक्षा का रंग, जीवन के गंभीर प्रश्नों के अन्तराल में झांकने वाली जिज्ञासा का रंग, नारी के प्रणय-वेदना में वेसुध हो जाने का रंग और अस्तित्व-सार्थकता के लिए न जाने कितने-कितने रंगों का आयोजन। यह आयोजन, यह शोभा और व्यक्तित्व की यह प्रसरणशीलता मानवीय स्वतंत्रता के बहुमुखी संदर्भ में ही समझी जा सकती है। इसी संदर्भ में श्री जनार्दनराय नागर की चर्चा करना अत्यन्त उपयुक्त होगा जो कविता, गद्य-काव्य, कहानी और उपन्यास इन सभी विधाओं में स्वातन्त्र्य-संग्राम के समय में लिप्त रहे हैं। काव्य के माध्यम से उन्होंने गांधी युग के वैभव का साक्षात्कार किया है, लेकिन उनका मन जीवन की अन्य दिशाओं तक भी गया है और कदाचित् अतृप्त ही लौट आया है। उनके काव्य में यही छटपटाहट है, यही अशेष प्यार की छटपटाहट।

1. फूल से उत्पन्न हूं मैं, आग से है खेल मेरा
जी रहा हू मैं गरल पी, है अमृत से मेल मेरा
है मुझे तो एक दुख-सुख, मैं प्रलय की ओर उन्मुख
फिर कृपा का भार कोई, क्या सकेगा झेल मेरा?
स्पर्श है निर्माण मेरे, ध्वंस किन्तु, प्रहार मेरे।
फूल मेरे हार हैं, अंगार हैं शृंगार मेरे॥
(फूल और अग्नि)

2. क्यों चूमता अमर है इन मृत्तिका कणों को?
इस मृत्तिका कलश में
पीयूष पेय भर-भर
निशि दिन उड़ेलता है क्यों मरण के चरण पर?
क्यों चूमता अमर है इन मृत्तिका कणों को?
अथवा
अमर प्राणों की अचिरता दी मुझे उपहार में क्यों
मुक्ति थी इतनी मनोरम और परवशता मरण सम
कर लिया बंदी चिरन्तन, घेर मुझको प्यार में क्यों
('अमृत-लेखा' से)

यों इस प्रसंग में यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि एक प्रकार से इस संकलन के अधिकांश कवियों की अन्तश्चेतना का संस्कार स्वातंत्र्य-संग्राम की आशा-निराशा और अजन्मे भविष्य की प्रतीक्षा ने किया है। रवि बाबू की एक लघु-सी कविता है "जन्म से पूर्व मैं कहां था मा ?" मां ने उत्तर में कहा, "तू इच्छा होकर मुझ मे विद्यमान था, पुत्र !" वस्तुतः एक व्यापक संदर्भ में हम इच्छा होकर ही स्वतंत्रता के गर्भ में जी रहे थे और जब हमारी अन्तश्चेतना का संस्कार हो रहा था तो उस प्रवाह में हमने ऐतिहासिक प्रसंगों को रचनाओं में अवतरित किया, अन्योक्तियां लिखी, नाटक खेले, सुधार समितियां बनाईं; मुट्ठी-भर व्यक्तियों के स्वामित्व को चुनौती दी, व्यक्ति की प्रतिष्ठा का स्वर उभारा, नारी के उत्कट प्रणयाराधन को शुचिता दी, अर्थ-भेद के कुरूप प्रसंगों के प्रति सामान्यजन में रोष उत्पन्न किया और वह सब कुछ लिखा जो आक्रोश में लिखा जा सकता था। सचमुच स्वातंत्र्य-उपलब्धि के अन्तिम चरण में उन सब कवियों के साथ (जिनका मैंने इस वक्तव्य मे पहले उल्लेख किया है) कुछ अन्य कवियों का कण्ठ-स्वर राजस्थान के छोटे-छोटे भू-भागों की सीमा लांघ कर फैलने लगा। इस स्वर को राजस्थान की काव्य-चेतना का नया हस्ताक्षर कहना औचित्यपूर्ण होगा। इस नए व्यक्तित्व को धारण करने वाले कवियों का उल्लेख सूचना मात्र के लिए कर रहा हू। ये है सर्वश्री गणपतिचन्द्र भंडारी, कन्हैयालाल सेठिया, रामनाथ 'कमलाकर', घनश्याम 'शलभ', (स्व०) चन्द्रदेव, परमेश्वर द्विरेफ, मेघराज 'मुकुल', सत्यप्रकाश जोशी, प्रकाश आतुर इत्यादि।[1]

मैंने इस स्वर को कविता को काव्य-चेतना का नया हस्ताक्षर कहा है, वह किसी प्रशस्ति के लिए नहीं है बल्कि एक व्यापक परिवर्तन की दिशा का बोध कराने के लिए है। इस परिवर्तन की दो विशिष्टतायें उल्लेखनीय है। एक तो यह कि इन कवियों की रचनाओं मे सामाजिक दायित्व का स्पष्ट बोध प्रतीत होता है और दूसरी यह कि ये कवि सामाजिक दायित्व के साथ ही साथ आत्मा की उस अंतरंग छवि को चित्रित करने की कोशिश करते है जो पूर्ववर्ती कवियों मे संयोगवश मिल जाय तो मिल जाय। एक तरह से ये कवि खड़ी बोली के उस

1. वास्तविकता तो यह है कि इन कवि-नामों का आधार मेरी धुंधली-धुंधली-सी स्मृति है। इस स्मृति को अधिक प्रामाणिक बनाने के लिए मैंने कुछ कवियों के प्रकाशित संकलन का उपयोग किया है, शेष कुछ के लिए प्राचीन पत्र-पत्रिकाओं और मित्रों से जानकारी एकत्रित की है। किन्तु किसी विधिवत् साहित्य-इतिहास के अभाव में मुझे भय है कि कुछ उल्लेखनीय नाम मेरी जानकारी मे नही आए हैं। इस अपूर्ण जानकारी की प्रतीति मुझे इस तरह हो रही है कि पुराने मत्स्य-प्रदेश के एक भी कवि का मैं उल्लेख नहीं कर पा रहा हू। मेरी अल्पज्ञता पर विशेष विचार न कर मेरी जानकारी के लिए यदि कवि-जन मुझे कभी लिखने की कृपा करें तो उस सामग्री का फिर कभी उचित उपयोग कर पाऊंगा।

स्वर का प्रतिनिधित्व करने वाले हैं जो नई सामाजिक क्रान्ति और काव्य-सौन्दर्य की विस्तार-कामना में सहायक हो रहा था। यह अनुपयुक्त नहीं होगा कि इस नए चैतन्य का किंचित परिचय देने के लिए मैं इस पीढ़ी के दो कवि श्री गणपतिचन्द्र भंडारी और श्री कन्हैयालाल सेठिया को उद्धृत करूं। कवि गणपतिचन्द्र की यह विशिष्टता है कि उनकी काव्य-कृतियों में सामाजिक वैषम्य के प्रति आक्रोश है, बल्कि यह कहना उपयुक्त होगा कि मनुष्य-मन की ऊर्ध्वगामी यात्रा के लिए जिन सामाजिक मूल्यों की आवश्यकता है, उन सभी को वे अपनी रचनाओ मे समेटने हैं।[1] ऐसी एक रचना 'रक्त-दीप' है जिसमे एक ओर सामन्ती विभव और दूसरी ओर क्षुधित, विवश, निरुपाय और अकिंचन नर-नारी हैं। यह नारी पुत्र के लिए उतना दूध भी प्राप्त नही करती जितना कुंवर जी का पिल्ला। 'रक्त-दीप' रचना विषम आर्थिक सम्बन्धों पर एक करुणापूर्ण टिप्पणी है। इस रचना का प्रारंभ दिसम्बर के कठिन शीत वर्णन से होता है। शीत इतना दारुण है कि मानो अम्बर का कलेजा चू रहा हो। ऐसी ठिठुरती सर्दी में प्रभात होते न होते एक नारी-आकृति चली जा रही है। कवि लिखता है—

> यह कौन सिहरती जाती है ? यह कौन ठिठुरती जाती है ?
> भूखे भारत की प्रतिमा-सी यह कौन हहरती जाती है ?
> किस शाहजहाँ हतभागे की मुमताज बिलखती जाती है ?
> देखो भारत की भूख स्वयं साकार सिहरती जाती है !

इस नारी के पीछे जो नर-प्रेत है वह ठाकुर का कारिंदा है और प्रातः के पूर्व ही इसे घेरने आ गया है, क्योंकि ठाकुर के घर पुत्री के ब्याह में राज्य-प्रासाद को संवारने का दायित्व इस हतभागिनी का है। वह अपने दायित्व को पूरा करने के लिए पति के साथ जुटी हुई है। तभी कुंवर जी उधर आते हैं—

> तब उधर कंवर जी लिए हुए कुत्ता ड्योढी पर आते हैं।
> फिर बड़े प्यार से बिठा गोद में उसको दूध पिलाते है॥

1. राजस्थान के कृतित्व मूल्यांकन करने के लिए एक प्रश्न-तालिका भेजकर मैंने प्रान्त के प्रतिष्ठित कवियो से उनके मत आमन्त्रित किए थे। उन प्रश्नों में एक प्रश्न यह था—"यदि आपने भारतीय स्वातन्त्र्य के समय रचना प्रारम्भ की तो उस समय आपकी रचना सामान्यतया किन विषयों पर होती थी ?" इसके उत्तर में कवि ने लिखा है, "राष्ट्रीय और जन-जागरण, सामाजिक रूढ़ियों का विरोध और हास्य।" कवि द्वारा प्रकाशित रचना-सकलन 'रक्त-दीप' मे भी कवि ने अपनी रचनाओं की मूल प्रेरणा और रचना-प्रक्रिया पर जो वक्तव्य दिया है उससे मुझे यह मन्तव्य बनाने मे बड़ी सहायता मिली है। यदि मैं उन्हें ठीक तरह से समझा हूं तो आज भी उनकी मूल प्रेरणा का स्वर यही सामाजिकता है, यही अर्थ-वैषम्य, यही बाह्य यथार्थ। व्यंग्य और हास्य में भी अधिकांशतया इसी सामाजिक यथार्थ पर टिप्पणी होती है।

बच्चा दूध देखता है और रोने लगता है, रोता है तो रोता ही जाता है। मां क्या करे? उसे युक्ति सूझती है कि

बेटे की भूख बुझाने मां लपकी चुल्लू में चूना भर।

कवि की टिप्पणी है—

हा आज दूध के बदले मे, कान्हे का जी बहलाने को।
तैयार यशोदा होती है, चूने का घोल पिलाने को॥

इसके साथ ही यह प्रसंग समाप्त हो जाता है, किन्तु इस सबका निष्कर्ष क्या? कवि प्रचारक की तरह किन्तु प्रभावशाली स्वर में कहता है—

तुम महा सृजन, तुम महा प्रलय
अपने बल को पहचान उठो

तुम उठो वहां आंधी बन कर
जग पर नगों। भूखो। धाओ
मानव के लोहू से जलने
वाले ये दीप बुझा जाओ।

['रक्तदीप' काव्य-संकलन से उद्धृत]

इस सामाजिक स्वर के साथ-साथ आत्मा की अंतरंग आकुलता को कवि कन्हैयालाल सेठिया ने छोटे-छोटे गीतो में अंकित किया है। कवि के इन गीतों का संग्रह 'दीप किरण' में हुआ है। 'दीप किरण' की रचनायें रहस्य, सौन्दर्य, वैयक्तिक अनुभूति और दार्शनिक जिज्ञासा से प्रेरित हैं। वे वस्तुत: गीति-काव्य की प्रतिनिधि रचनायें हैं। रूमानी कवियो की तरह कवि ने अपनी अभिव्यक्ति को ताजगी देने के लिए कई जगह प्रकृति से प्रतीक चुने हैं जो जीवन की क्षण-भंगुरता को जितनी सहजता से प्रकट करते है, मन को उसी गहराई के साथ प्रभावित भी करते हैं। 'दीप किरण' का एक गीत है जिसमें कवि ने पूजा के फूल, दीप और गीत से अपने समर्पण की अशेष इच्छा को व्यक्त किया है। लिखा है—

मैं पूजा का दीप बनूंगा
अपने उर पर रख चिनगारी
बनू आरती का अधिकारी
बुझवा दोगे काजल बन कर तो मैं और समीप बनूंगा

[दीप-किरण का 84वां गीत]

एक वैयक्तिक अनुभूति का गीत दृष्टव्य है जहां बादलों की ओट में रात रो रही है, पवन उच्छ्वास बन घूम रहा है, बिजलियों की तरह प्राण का विश्वास पल-पल आलोकित होकर बुझ-बुझ जाता है, किन्तु इसी रात में—

कूकती हैं बांसुरी फिर
आज यमुना तीर
खोलती रह रह झरोखा
राधिका की पीर
आंसुओं को रख हथेली
मोलती तर-पात
बादलो की ओट लेकर रो रही है रात

[दीप-किरण का 77वां गीत]

सेठिया के अनेक रसमय, रहस्यमय गीतो में इतना चयन पर्याप्त होगा।

मेरा इन दोनों कवियो को उद्धृत करने का अभिप्रेत इतना ही था कि राजस्थान मे नई पीढी के स्वरोदय की कुछ विशिष्टतायें अवगत हो लें। वस्तुत उचित ही यह था कि मैंने जिन कवियों का नामोल्लेख किया है उन सबकी मैं विस्तारपूर्वक चर्चा करता, क्योंकि उनमे से प्रत्येक का काव्य-स्वर अपनी-अपनी विशिष्ट भंगिमा के साथ प्रान्त मे फैला है किन्तु, विस्तार-भय के कारण ऐसी चर्चा संभव नही हुई।

स्वतन्त्रता-संग्राम के अन्तिम चरण मे हिन्दी कवियों के जागे हुए स्वर को शीघ्र ही सम्पूर्ण प्रान्त में व्याप्त होने और प्रतिष्ठा प्राप्त करने का संयोग मिला और जब देश ने स्वतंत्रता उपलब्ध की तब राजस्थान को इस नये भाग्योदय का सुख मिला। कवियों के सृजन पर इस परिवर्तन का यह प्रभाव हुआ कि वे एक विशाल काव्य-परम्परा के समक्ष आकर खड़े हो गए और उन्हें अपेक्षाकृत अधिक रसज्ञ जनों के प्रति निवेदित होने की जिम्मेदारी स्वीकार करनी पड़ी। यह संयोग राजस्थान के कवियों के लिए नया तो था किन्तु वह उसका कामनापूर्ण स्वप्न भी था। इस दृष्टि से इस देश की सबसे बड़ी उपलब्धि यही है कि शताब्दियों के विशृंखलित साहित्य कर्म को हम फिर आकृति और व्यक्तित्व प्रदान करने के लिए कृत-संकल्प हो गए। हमने जिस दशक मे यह कार्य प्रारंभ किया है वह सामान्य काल-खंड नही है। एक तो साहित्य कर्म की उपयोगिता प्रमाणित करने के लिए ही कठिन परिश्रम और धैर्य की आवश्यकता है क्योंकि मनुष्य का जिन आवश्यकताओं और एषणाओं के साथ गहरा सम्बन्ध है, साहित्य की प्रकृति उनसे मिलती-जुलती नही है। दूसरी कठिनाई यह है कि साहित्यकार के व्यक्तित्व को समृद्ध बनाने के लिए जिन सृजनेतर साधनों की आवश्यकता है वे इस

प्राप्त में प्रचुरता के साथ उपलब्ध नहीं हैं। सत्य तो यह है कि कठिनाइयां अनेक हैं किन्तु कभी उनमें निराश और कभी अस्तित्व-सिद्धि के लिए लड़ती-झगड़ती ये कवि-पीढ़ी आगे आ ही गई है। काल की इस अवधि में जो रचा गया है उससे यह जाना जा सकता है कि हमने चाहे विराट् प्रतिभा का परिचय न दिया हो, लेकिन हम निष्ठापूर्वक सृजन कार्य में लगे हैं।

सबसे पहले मैं उन दो कवि मित्रों का आदरपूर्वक उल्लेख करना चाहता हूं जिनके इसी दशक में दो बृहद् काव्य-ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, उनमें से एक 'पार्वती' महाकाव्य है जिसके कवि डा० रामानन्द तिवारी 'भारतीनन्दन' हैं और दूसरा 'मीरा' महाकाव्य जिसके प्रणेता कवि परमेश्वर द्विरेफ हैं। शास्त्रीय समीक्षक इस पर झगड़ते रहें कि ये ग्रंथ परम्परावादी दृष्टि से महाकाव्य हैं या अन्य कुछ, किन्तु दोनों ही ग्रंथ अत्यन्त निष्ठा के साथ लिखे गए हैं। दोनों कवियों ने जिन दो महिमामयी नारियों को इन काव्य-ग्रंथों में समादृत किया है वे अगाध प्रेम और अदम्य संकल्प-शक्ति की प्रतिमूर्ति हैं। दोनों कवियों ने सौन्दर्य के साथ शिवम् की जो प्रतिष्ठा इन काव्य-ग्रन्थों में की है यह मणि-कांचन संयोग है। कवि परमेश्वर द्विरेफ ने इस काव्य-ग्रन्थ के अतिरिक्त शताधिक रससिक्त गीतों की रचना की है जिनमें प्रकृति और जीवन की अनेक रहस्केलियां दृष्टव्य हैं। इस संकलन में उनका एक गीत है 'कुंकुम का संसार'। गीत वस्तुतः क्षण की उद्दाम अनुभूति होता है। क्षण के उस आवेश में कवि देखता है कि सांझ का रंगीन संसार अंधकार में विलीन हुआ जा रहा है। सब छूट जाता है, पक्षी की गति, वंशी का स्वर, वन का अलि-गुंजार, पवन जल, हंसदल का निर्बाध विचरण। यहीं सहसा उसे स्मरण आता है कि ऐसे ही सब कुछ मौन हो जाता है, क्योंकि जीवन की पीड़ा से बड़ा काल का सर्प सब कुछ निगल जाता है।"

प्रान्त के अग्रणी कवि श्री 'मुकुल' से प्रारंभ करें।

सन् 1954 में मुकुल का 'उमंग' काव्य-संग्रह प्रकाशित हुआ जिसका मुख्य लक्ष्य सामाजिक चेतना जगाना था। वे इसी अर्थ में हमारे प्रान्त के बड़े कवि रहे, क्योंकि लगभग दो दशकों से वे अपनी कविता में मनुष्य की श्रेष्ठता का घोष करते हैं।

सामाजिक चैतन्य की गहरी अनुभूति घनश्याम 'शलभ' की कृतियों में निहित है। उनकी एक रचना है 'बूद जो कितनी महान है'। कवि का वक्तव्य है कि इस लघु के विराट् समर्पण को कौन जानता है? यह मिट्टी तो मधुमास लहराया, यह काल-पत्र पर गिरी तो न जाने कितने अजरामर ग्रन्थों की रचना हुई, किन्तु, समर्पिता बूद की चिन्ता किसे है? इसीलिए तो कवि घोषित करता है—

इसीलिए तो सोचता हूं
क्योंकि मैं भी एक बूद हूं
संभव है
अनेकानेक मनुष्यों के
इस अथाह आलोडित सिन्धु में
घुल-मिलकर
गहराई मे उतरकर
स्वयं विराट बन जाऊं
अत. उस बूद को पहचान लू
जो कि क्षण-क्षण
बिन्दु-बिन्दु
विराट बनती जा रही है।

बूंद की इस अकिंचनता में विराट् का बोध ही वस्तुत: सामाजिक चैतन्य की कसौटी है।

यह कवि एक-दूसरे के प्रसंग में इतना करुण हो गया है जैसे किसी बांसुरी का स्वर दूर तक की अगम्य घाटियो मे गूंज जाय। रचना का शीर्षक है 'समय की बात'। कविता का प्रारंभ ढली हुई सांझ की इस विषादपूर्ण मन.स्थिति से

1. जीवन के विरुद्ध जो चलती वह कविता कुलटा है
कला नहीं उसकी सतति है, भारायन उलटा है
शाश्वत और चिरन्तन का मुख युगमति को हरता है
बिना सींग का कवि-पशु केवल हरी घास चरता है.
मैं हूं तरुण रक्त की गर्जन निष्क्रिय गीत नहीं हूं
अर्थहीन, ध्वनि मात्र और केवल संगीत नहीं हूं
'उमंग' की प्रथम रचना

होता है—

श्रांत, दिव श्रम से थका
अब लौट आया हूं यहां पर
हूं रहा अवलोक—वे परदेश से परजन्य आये
पैठ उस ही ठौर तुम भी
किया करती थी प्रतीक्षा एक दिन मेरी जहा पर
पढ़ सुनाया था कभी कादम्बरी का वह कथानक
आ रहा सब याद फिर, तुमने सुनाया था जहां तक
ढल चुकी संध्या सुनहली हो चली अब रात फिर भी
ये तुम्हारी मधुर सुधियां जग रही सोती नही।

और यह स्मरण धीरे-धीरे कवि-मन पर वर्षा की रात ही की तरह घिर जाता है, रातरानी के धुले हुए फूलों की तरह यह सुधियों की महक अंधकार में भटक रही है, सारे डूब रहे है और आकाश सूना हो गया है, बूदें झर-झर बरस रही हैं, गीत का स्वर अवरुद्ध है।

मुझे लगता है, शलभजी की कविता का क्षितिज एक नही है बल्कि अनेक क्षितिज एक ही क्षितिज मे डूब गए है। काव्य-शिल्प उन्होने अभ्यास के साथ संवारा है।

जीवन के विभिन्न प्रभावों को ग्रहण करने और फिर आत्मवान होकर अभि-व्यक्त करने की क्षमता कवि ज्ञान भारिल्ल में भी है। आक्रोश और अतृप्ति के क्षण दोनों ही कवि के मन पर प्रभाव डालते हैं। अतृप्ति के प्रत्येक क्षण मे श्रापित यक्ष की तरह उनका मन अशेष तृष्णा लेकर पुकार लगाता है किन्तु प्रत्येक सीमान्त से उनका स्वर अनादृत ही लौट आता है। तो भी अपनी आस्था को अघट रखता हुआ कवि कहता है—

चाहे भव-भव तक भी मुझको तृप्ति रहे तरसाती
किन्तु यही निस्सीम पिपासा लेकर जला करूंगा
तुम अपने मन के मन्दिर में सुख का दीप जलाना
मैं दीपक की स्नेह-वर्तिका बनकर गला करूंगा
तुम अपने जीवन का भी सब दर्द मुझे दे देना
मैं तुमको दे दूंगा अपने सपने, अपनी आशा।

अतृप्ति का यह कवि अपनी निराशा को लेकर कहां-कहां तक नही गया है! बसन्त की गन्ध-बोझिल पवन ने उसका सारा शरीर झुलसा दिया है, मधु मास की प्रत्येक संध्या के आकाश में उसका मन दूर-दूर तक तृप्ति खोजने गया तो है किन्तु

शर-विद्ध चीखते विहग-सा निराश होकर लौट आया है।[1]

शायद यही निराशा एक कविता मे कुछ विकृत तर्क देती हुई कहती है कि सब लोग महत्वाकांक्षाओं को धारण करते हैं और सभी का अपना युग आता है। मैं भी किसी समय अभिलाषाओं के स्वर्ग मे घूमा हूं, पर हाय ! आज तो समय का कंकाल मात्र ही हू और इसीलिए मधु-पान करता हूं।[2]

ऐसा आत्मलीन कवि भी रूमानी अतृप्ति के शिखर छोड़कर दूसरे जीवन के शिखर तक पहुंच जाता है। जहां दिशाओं में विभा घुली है। प्रातः का पवन सृष्टि भर को जगा रहा है। सागर में चंचल हिलोरें उठ रही हैं। यह छोटी-सी प्राणवान लहर उस सदियों पुरानी और भोंड़ी-सी चट्टान पर नाच रही है। एक दूसरी रचना में भेद की दीवार उठाने वालों को वह कहता है—

मन प्राणों को इस बन्धन में
और न बांधो
हे विराट्
ये क्षुद्र लकीरें और न खींचो
शतदल की सौ पंखुरियां
सौ फूल नहीं हैं
एक फूल है

('आकाश कुसुम' : लकीरें)

ऐसे ही संवेदनाओं के अनेक संदर्भ में रामनाथ 'कमलाकर' की कविताओं का रसास्वादन किया जाना चाहिए। प्रकृति की विराट् प्रभुता, प्रीति का पावन आकर्षण, रहस्य-चिंतन, वैषम्यपूर्ण जीवन की कुंठायें और इधर कभी-कभी बीसवीं शताब्दी के कृत्रिम जीवन की ग्लानि—इतना कुछ समेटता है कवि 'कमलाकर'। एक रचना में चांद के अपरूप सौन्दर्य का यह आत्मीयतापूर्ण वर्णन दृष्टव्य है—

लो प्रतीची के अधर पर झुका चंद्रानन
छांह पलती तम किशोरी का जगा यौवन
सोचता क्या ओठ पर अंगुली धरे आकाश
चांदनी मे मुस्कराता चांद मेरे पास ।।[3]

रूप की इस छवि के अंकन करने वाले कवि का यह व्यंग भी स्वीकार कीजिए जो उनकी कविता 'स्नो की दीवार' मे प्रकट हुआ है। कविता का प्रसंग यह है कि कवि आयु प्राप्त करता जा रहा है, किन्तु आयु के साथ-साथ उसे वे सब

1 2. दृष्टव्य—'आकाश कुसुम'—वसन्त और मेरा मन, तुम मुझसे नाराज हो।
3 'सप्त-किरण' चांदनी का चांद।

परिवर्तन अस्वीकार हैं जो उसके देह-सौन्दर्य को निगल रहे हैं। इसीलिए झुर्रियों को वह स्नो से मिटा देना चाहता है और यदि आयु की परिपक्वता के कारण बाल उड़ रहे हैं तो उसका उपचार भी उसने सोच लिया है—

मांग की जगह बदलो
परिवर्तन जीवन है
फैशन इसीलिए तो
रोज रोज नूतन है

किन्तु इस सब के होने हुए भी वह प्रश्न तो है ही—

स्नो की दीवार से
कैसे रोक पाओगे जीवन की तेज चाल ?

आयु प्राप्त करने वाले इस प्रश्न का उत्तर सोच सकते हैं। इस सब रूप और आयु, जीवन और मृत्यु के बीच भी इस कवि का वह रहस्य चिंतन और आस्था की प्रगाढ़ता देखिए—

अंजलीगत समर्पण हुआ जब अहम्
रह गए एक तुम ही जगत बन स्वय
भाव घूघट उठा साधना से कहा
थे कभी तुम कठिन अब अनायास हो
शब्द से दूर हो अर्थ से पास हो
दूर से दूर हो पास मे पास हो।

इस रूप, इस तल्लीनता, इस सामाजिक चैतन्य के विविध आयामों में कवि की यह जिजीविषा अनेक रूपों को लेकर विचरती रहती है, क्योंकि अकेले कवि का ही नही बल्कि मनुष्य का मन कुछ बंधी-बंधाई लकीर की तरह सीधा-सीधा नही जाता। वह एक प्रवहमान तरंग की तरह है जो कभी छोटे तो कभी बड़े घेरे बनाती है, कभी तट तक लगती है और कभी अनन्त जल-धार मे कही की कही अन्तर्धान हो जाती है। ठीक इसी तरंग-सा व्यक्तित्व हमारे इस दशक के कवियो का है जो कभी रूमानियत और कभी सामाजिक प्रभाव को अंकित करने मे व्यस्त हैं। यहां कुछ कवियों की रूमानी रचनाएं दृष्टव्य हैं।[1]

1. रूमानी-भंगिमा—

(क) कहने को ये अबर-धरती और गगन के सभी सितारे
देख रहे है हम दोनों को करते होंगे क्रूर इशारे
गात तुम्हारा सहला-सहला मलय पवन भी बहता होगा
सुधि आने पर गीले शायद होते होंगे नयन तुम्हारे
पर मेरे अबर पर कब से यह उदास बादल क्यो छाया
बीत गई लो शरद सुहानी, किन्तु तुम्हारा पत्र न आया

इस रूमानी स्वर को अधिक तन्मयतापूर्वक और शायद अधिक संयम के साथ कुमारी शकुन्तला, 'रेणु' और श्रीमती राजकुमारी कौल ने अपनी रचनाओं में बांधा है। आत्मार्पण की एक स्थिति कुमारी रेणु के इस गीत में दृष्टव्य है: "तुम्हारे द्वार तक आई थी तो न जाने किन-किन कल्पनाओ को सज रही थी। विचार था कि प्रियतम तुम्हें गाकर रिझा लूंगी। यदि एक बार चरण प्राप्त हो गए तो सब जन्मो का कलुष धुल जायगा, पर जब तुम प्राप्त हुए तब न तो गाया गया और न आत्म-निवेदन के लिए कोई शब्द ही मिले। बस आसुओं से ही चरण पखारती रही। यह विचार था कि—

तुम्हे पिन्हाऊंगी मैं प्रियतम
अश्रु-कणो की माला निर्मल
और तुम्हारे स्नेह दान से
भर लूंगी अपना पुण्यांजल !
यही भावनायें थी मन मे
पुलक न माती थी इस तन में

(ख) अगना हर बांह एक झूल रही झूलना
इस दृग-गलियारे पर सुधियो की भीर है
बौर गई निशिगन्धा भर आई मालती
मन की अमराई पर बरस रही पीर है
प्राणो के बिरवा की कच्ची-सी डाली पर
असुवन की डोरी है, सपनों का डोलना
मन के ओ मीत जरा हौले से तोलना
घर आए पाहुन तो द्वार तनिक खोलना

—आनन्द कश्यप

(ग) आज सावन की घटाओ मे तुम्हारे नाम
पाती ला रही है यह सजीली सांवली-सी शाम
कि बिरहा की तपन मे तिलमिलाता देह का हंसा
तुम्हारी अर्चना को दे रहा होगा चुनौती-सी
कि रस का, रूप का लोभी चमन की डाल का भंवरा
प्रणय की भावना मे कर रहा होगा मनौती-सी
तुम्हारी आस भी क्या है ? कि हर विश्वास भी थकता
तपस्या की लगन मे आज ध्रुव तारा सजाता है
तुम्हारी प्रीत भी क्या है कि हर तूफान में छिप कर
लगन का देवता मधुराग की वीणा बजाता है
हिलाओ आज इन्द्रासन कहीं से स्नेह का दीपक
जला कर ला रही है यह सजीली सांवली-सी शाम

—शान्तिलाल भारद्वाज

किन्तु तुम्हें सन्मुख पा, पावन
निर्विकार-निर्वेद गया बन
हुआ मुक्ति-पथ चिर आलोकित
गया चरण मे ही जीवन ढल।

श्रीमती कौल से इस संकलन मे जो गीत समाविष्ट हुए हैं, उन सबमें समर्पण की अनुभूति वड़ी सबल है। 'तुम्ही तो वह प्रथम क्षण' शीर्षक कविता में एक स्थान पर लिखा है—

वन्दिनी मुझको वनाया
बंधनों से मुक्त करके
रागिनी मुझको बनाया
चिर जलन से युक्त करके
प्राण मेरे हों भले ही
पर तुम्ही वे प्राण कम्पन
दे गए जो श्वास जीवन को तुम्ही तो वह प्रथम क्षण।

सामाजिक चैतन्य और मानवीय मूल्यों का यह स्वर, जो स्वातंत्र्य संग्राम के समय उठा वह स्वातंत्र्य उपलब्धि के पश्चात भी गूजता रहा। कुछ तो यह हुआ कि हमारा स्वप्नदर्शी मन पुराने और नये शासन मे कोई अन्तर ही नही कर पाया क्योंकि जिस सामाजिक समृद्धि के मनोरथ हम धारण किए हुए थे, उनका प्रारंभ ही हमें नजर नही आता था। हमें प्रतीत होने लगा कि मनुष्य अभी तक स्वाधीन

(घ) प्रिये ! तुम्हारी देह उजहरी
अमलतास का गाछ सुनहरी
और तुम्हारी उमर माघ की
मीठी चढ़ती हुई दुपहरी
हसी धूप सी सहज सुहानी
झरने की कलकल सी वाणी
नभ की निर्मल नूतनता सी
नयनो की नीलिमा लुभानी
झीने बादल के टुकड़े से
उड़े उड़े से भाव सवरते
कोमल वचन पराग सने से
हरसिंगार सुमनो से झरते
यह जीवन की छाह इकहरी
अमलतास का गाछ सुनहरी
मेरे मन मे इस छाया मे
सुस्ताने की इच्छा लहरी।
मदनगोपाल शर्मा

नही है । दारिद्र्य से वह पिस रहा है, उसकी चिंतन-शक्ति निष्क्रिय हो गई है। सर्वत्र उसका शोषण किया जा रहा है । 'इस असहनीय नियति को चुनौती देनी चाहिए । यदि यह नियति शासन के द्वारा शक्ति ग्रहण कर रही है तो शासन को चुनौती देनी चाहिए। यदि वह अन्यत्र कही से आज्ञा ग्रहण कर रही है तो उस दिशा को चुनौती देनी होगी । जो होना है हो पर मनुष्य को स्वाधीनता, न्याय और प्रेम प्राप्त हो। कई बार तो अनेक कविताओं का विषय यह होता था कि मनुष्य का भाग्य बदलें । मुझे स्मरण है कि एक समय हिन्दी की कविता मे 'नया', 'नवीन' और 'नव्य' शब्द का इतना अधिक प्रयोग हुआ कि कुछ पंक्तियां नितांत अर्थहीन होकर भी यह सार्थकता प्रकट करती रही कि कुछ बदलना चाहिए और नया आना चाहिए। नया चन्द्रमा, नया आकाश, नया धर्म, नया कर्म, नया मनुष्य, नया गान, नये पुष्प, नयी लहर और न जाने क्या क्या, किन्तु, सब कुछ नया। धीरे-धीरे इस नये के स्थान पर हमारी आकांक्षाएं रूप लेने लगी, कुछ नये प्रतीक नये अभिप्राय के लिए काम आने लगे और धीरे-धीरे बहुत कुछ इतना विश्वास-पूर्ण रचा जाने लगा जो वस्तुत: मानवास्था का परिचायक था। आज भी यह सृष्टि और यह देश अनेक यत्रणाओं से त्रस्त है और जो मोटी चमड़ी के नहीं हैं वे सब यंत्रणाओं से मनुष्य को शीघ्र ही मुक्त देखना चाहते हैं । प्रान्त के कवियों में अब भी कई बलिष्ठ स्वर हैं जो मानवीय दारिद्र्य और दुर्भाग्य के विरुद्ध उठने हैं। वे इन सब विपत्तियों को एक सुनियोजित षड्यंत्र ही मानते हैं और बार-बार मनुष्य को सभी प्रकार के अन्याय के विरुद्ध खड़े होने का नियंत्रण देते हैं । ये स्वर किसी मतवाद से प्रभावित नही हैं और न किसी राजनैतिक दुराग्रह से बंधे हैं। इन स्वरों मे कवि श्री मुकुल, श्री भंडारी (जिनकी चर्चा अन्यत्र कर चुका हूं) के अतिरिक्त सर्वश्री सुमनेश जोशी, सत्यप्रकाश जोशी और प्रकाश 'आतुर' के स्वर प्रभावशाली हैं।

कवि सुमनेश जोशी, जिन्होंने स्वातन्त्र्य के समय से मानवीय मूल्यों का संघर्ष लड़ा है, अपनी नवीनतम कविता में लिखते है—"तुम जो आज लघु, हीन, ताड़ित और उपेक्षित हो कल ऐसे रहने वाले नही हो क्योंकि यह नियति का क्रम है कि जो आज विभव-पूजित, शस्त्र-सुसज्जित और शासनाधिकार से गर्व-दृप्त हैं वे

(८) मैं न घटा हू वह जो बस बरसात में,
आसमान मे आकर दो दिन की घिरे ।
मैं न मधुप हू वह जो बिन मनुहार के,
सुमन-सुमन पर मनचाहा उड़ता फिरे ।
पर पल भर भी तुम जो मुझे दुलार दो,
मैं मुखरित हो मधुवन का गुंजन बनू ।

मनोहर प्रभाकर

कल क्षीणबल हो जाने वाले हैं। मैं तुम्हें विश्वास के साथ कहता हूं कि जैसे कल मुझे सत्ताधीशो की पराजय अवश्यम्भावी नजर आ रही है वैसे ही तुम्हारी नव-यात्रा का उठता हुआ उत्साह भी दृष्टि-ओझल नही हो पा रहा है। तुम आश्वस्त रहो कि जैसे अभिमान का क्षण नाशवान है वैसे ही लघुता भी क्षार-क्षार होने ही के लिए है।" ('नियति-क्रम' शीर्षक कविता का भावानुवाद)

मानवास्था का यह स्वर 'एटम परीक्षण' शीर्षक सत्यप्रकाश जोशी की रचना मे दृष्टव्य है। कवि सताप-ग्रस्त स्वर मे कहता है कि यदि 'एटम परीक्षकों' की आकांक्षाएं निर्बाध रूप से तृप्त होती रही तो…।

एक दिन फूलों में लाली नही होगी
खेतो मे धान की बाली नही होगी
वर्षा तो होगी, हरियाली नही होगी
लूले लंगड़े जन्मेंगे
अन्धे बहरे पनपेंगे
और एक दिन
नारी तो होगी, मां नही होगी
पुरुष तो होगा, बाप नही होगा
भाई नही, चाचा नही, ताई नही
लड़के-लडकियो में सगाई नही होगी
प्रेम नही होगा, परिवार नही होगा।

सामाजिक चैतन्य का स्वर प्रकाश 'आतुर' की कविताओं को भी विशिष्टता प्रदान करता है। यों इन दिनों उनकी कुछ कविताओं मे जीवन की नश्वरता का अनुभव गहरी करुणा के साथ अंकित हुआ, किन्तु मुझे लगता है कि जिस स्वर से उन्हे पहचाना जा सकता है वह यह है—

ऐसा पथ अपनाओ जिसने पौरुष को ललकारा हो
ऐसा सपन सजाओ जिसने समता को अधिकारा हो
ऐसी जलन जलाओ जिससे जल जाए यह अर्थ विषमता
ऐसा पूजो रूप जिसे बहुजन ने स्वयं शृंगारा हो
आओ निशा हटाता हूं
आओ दिशा बताता हू
अरुणोदय-सी रश्मि बिखेरो, तिमिर शृंखला तोड़ दो।

प्रकाश जी ने इधर एक-दो रचनाएं ऐसी भी लिखी हैं जिन्हे 'अनकन्वेंशनल' ही कहना चाहिए। इनमे एक कविता 'मन के प्रयोग' है। मन की उपमा कुत्ते की

दुम से दी है जो संपूर्ण कविता के प्रसंग में सार्थक भी है। मुझे यह रुचिकर प्रतीत होता है कि प्रकाश जी कुछ नई दिशा खोजें, क्योंकि सामाजिक चैतन्य की प्रबुद्धता इसमे नही है कि कवि आकांक्षामय शब्दावली का अनिवार्यत: प्रयोग करें, बल्कि इसमें है कि उसकी अभिव्यक्ति आत्मा के अतलान्त को स्पर्श करे और मनुष्य का मन आलोकित कर जाय।

स्वातंत्र्योपलब्धि के पश्चात काव्य-धारा के प्रवाह मे जो नया मोड़ संपूर्ण भारतीय भाषाओं में दृष्टिगत हुआ है हम भी उसके साझीदार हैं। मुक्त छंद का तो अधिकांश पुराने और नये कवि प्रयोग करने ही लगे है किन्तु कथ्य की विविधता, अनुभूति को सक्षम बनाने के लिए शिल्पगत प्रयोग, सामाजिकता का व्यापक अर्थ-बोध, सांकेतिकता और क्षण की तीव्रतम अनुभूति इन सब विशेषताओ को रचनाओं मे समेट लेने की आकांक्षा कई कवियों में उभरी है। उनमे से प्रमुख हैं—सर्वश्री जयसिंह 'नीरज', प्रकाश जैन, जुगमन्दिर तायल, रणजीत, राम आचार्य, भारतरत्न भार्गव, शान्तिलाल भारद्वाज, कृष्णवल्लभ शर्मा, त्रिलोकीप्रसाद इत्यादि। मैंने भी इस दिशा में कतिपय रचनायें लिखी हैं।

इसी नयी कविता के सम्बन्ध मे इतना आग्रह अवश्य रहना चाहिए कि वह कविता बनी रहे। मन को स्पर्श करने का काम कविता करती रही है और यह धर्म उसे निभाते रहना चाहिए। कभी-कभी काव्य के नाम पर जो विकृति और निरर्थकता आ रही है उसे कोई तर्क, कोई प्रमाण पुष्टि नही दे सकता है। मुझे यह संकेत देने की आवश्यकता इसलिए प्रतीत हो रही है कि इधर जो लिखा जायगा वह कदाचित इस नयी कविता के माध्यम से ही होगा, क्योंकि आलोचक जो चाहे कहते रहें, पर इतना सत्य है कि मन की अनेक अनुभूतियों और सृष्टि के अनेक प्रभावों को वाणी देने के लिए जिस भाषा की आवश्यकता है वह इस कविता के पास है। यह भी सिद्ध है कि हमारी बुद्धि पूर्ण 'एटमी युग' की रसज्ञता के वह समीप भी है और अनुकूल भी है। छन्द तथा अन्य परम्परागत काव्य-अलंकरण से मुक्त होने के कारण वह हमारे लिए विशेष बुद्धिगम्य भी हो जाने वाली है और इन परिस्थितियों में यह भी संभव हो कि इन सब अनुकूल स्थितियों में वे लोग भी कवि-कर्म के प्रति आकर्षित हो ले जिन्हें दूसरा कुछ भी करने-धरने के लिए न मिले। इसलिए मैंने आग्रह किया है कि जब कवि और अकवि के बीच भेद करने वाली काव्य-परिवेश की सभी कठिन और अभ्यासगत सीमाएं मिट जायेंगी तब यह अत्यन्त आवश्यक होगा कि तीव्र अन्तर्दृष्टि और सौन्दर्य-बोध ही काव्य की शक्ति हों।

मैं जयसिंह 'नीरज' से प्रारंभ करता हूं। 'नीरज' की यह रचना सबकी आत्मा का दर्पण है—

हम सब शुतुरमुर्ग हैं
धोखे में फंसते हैं
रेत में सर देकर
रक्षित समझते हैं
...
हम सब कछुए हैं

यही आत्म-साक्षात्कार जुगमन्दिर तायल ने किया है।

दायरे से तकने हैं
सिकुड़ना कर्म है
विस्तार ही अधर्म है
आंगन में बैठना बहुत ही बड़ी शर्म है।

इसी आत्म-साक्षात्कार की स्थिति में लिखी प्रकाश जैन की पंक्तियां दृष्टव्य हैं—

और किया क्या अब तक हमने
सुख के चित्र बनाए लाखों
और दर्द का विज्ञापन भी खूब किया है
बहुत चलाया पाप-पुण्य का खोटा सिक्का
बालू पर दीवार बनाई मर्यादा की।

पुराण-पुरुष युधिष्ठर ने अश्वत्थामा की निर्लज्ज हत्या का नाटक जिस तरह खेला उससे हम सब अपरिचित नहीं हैं, फिर भी रात-दिन हम वही नाटक खेलते हैं और सब पुण्य के नकाब लगा कर निर्भय है।

हम सब युधिष्ठर हैं
धरती से चार अंगुल ऊंचा चलता है
हमारी ख्याति का रथ सदा
पर अवसर को देखकर
और स्वार्थ को समझकर
हम जोर से पुकारते हैं 'अश्वत्थामा हतो'
और फिर धीरे से बोल कर 'नरो या कुंजरो'
सत्य वक्ता का दम्भ निभाते हैं
अपनी झेंप मिटाते हैं।

काम-काज और आपाधापी की इस दुनिया मे आत्म-दर्शन के लिए एक क्षण मिल जाय तो सब कुछ मिल गया। इस स्थिति की एक रचना मेरी है 'शेष फिर'

मुझको दो एक क्षण
जिसमें मैं मेंट सकूं
जो कुछ मैं हूं उस सबसे
आज बस इतना ही
शेप फिर···
शेप फिर···।
मुझको दो एक शब्द
जिसमें मैं देख सकूं
जन्म मरण
तृषा-शमन
आज बस इतना ही
शेप फिर···
शेप फिर···।

दो रचनाएं जिनमें नयी और सार्थक उपमाओं का प्रयोग हुआ है—दृष्टव्य हैं। पहली रचना भारतरत्न भार्गव की है जिसमें दर्द की उपमा निबोली से दी है। लिखा है—

दर्द एक नीम की निम्बोली-सा
कच्चा तो कड़वा है
पकने पर मीठा है
बहुत गुणकारी है

दूसरी रचना रामाचार्य की है जिसमें कवि ने साहित्यकार के संसद भवन का सांगोपांग वर्णन किया है। विरोधी दल (आलोचक) के लिए कहा है कि हम उनकी चिन्ता नही करते हैं, क्योंकि—

हम लिख रहे हैं
बे-खौफ लिखते जाएंगे
घिस नही सकती कभी यह
जिन्दगी की निब
क्योंकि स्याही से भरे
पाताल झरने हैं
आंख की दोनों दवातों में।

इस प्रकार लगभग पांच दशकों को लांघती हुई राजस्थान की काव्य-धारा

बीसवीं शती के अधुनातन काव्य तक आ गई है। इन पांच दशकों की सबसे बड़ी उपलब्धि यही है कि हम सभी असुविधाओं की मार झेल कर भी टूटे नहीं है और भविष्य को यत्किंचित आकृति देने की चेष्टा में लगे हैं। हमारा यह संकल्प है कि हम देश को श्रेष्ठ रचनाएं देने की हर संभव कोशिश करते रहेगे।[1]

1. यह आलेख राज साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित 'राजस्थान के कवि : भाग 1' की भूमिका से उद्धृत है।

# गुलेरीजी की कहानियों, कविताओं से गुजरते हुए

गुलेरीजी से हमारा परिचय लगभग पन्द्रह-सोलह वर्ष की आयु में होता है जबकि कहानी के जरिए प्रेम की दुनिया हमारे सामने खुलने को होती है। यह प्रेम की दुनिया स्मृतियो के सम्मोहन मे डूबती हुई, एक कुर्बानी के चमत्कार से उजली होती है। पन्द्रह-सोलह वर्ष की आयु में एक ऐसी दुनिया हमारे अन्दर भी होती है, हमारे अन्दर की वह दुनिया गुलेरीजी की कहानी वाली दुनिया से हू-ब-हू मिल जाती है। हमे एक प्रमाण मिल जाता है कि हमारे अन्दर जो सपनों और आदर्शों की दुनिया है वह अविश्वसनीय नही है, बाहर भी एक अपार प्रेम, बलिदान की दुनिया फैली है। इस तरह एक कहानी, एक शब्दातीत अनुभव की साक्षी होती है और सम्भवतया इसीलिए वह एक मामूली बलिदान से ज्यादा विश्वसनीय बलिदान की कहानी बनती है।

दृष्टव्य है कि प्रेम की इस दुनिया में किसी किस्म की क्रूरता नहीं है, न पश्चात्ताप, न शहादतनामा, न परपीड़न। यह टटपूंजिये प्रेमियो की आत्म-केन्द्रित दुनिया नही है, आत्म-विज्ञापन क्रय-विक्रय की भी नही। आत्मानुकूलन की यह कहानी हमे उन सारी अर्थछवियों से जोड़ती है जो किशोर-आयु की अर्थछवियां है और बाद में भी उस लहनासिह से हमारा अटूट सम्बन्ध बनाए रखती है जो हमारी जिन्दगी का 'ध्वस्त पुरुष' नही है और उस लड़की को भी एक मोहक प्रासंगिकता से हमारे साथ रखती है जो 'धत्' कहते-कहते एक सम्भावना-विरुद्ध उत्तर देती है—'हा हो गई' (सगाई)। बाद मे यह लड़की वयस्क स्त्री (सूबेदारनी) हो जाती है और लाम पर जाता लहनासिह जिसे 'मत्था टेकना' कहता है—यही स्मृतियों की सारी धंध हटाती वह लड़की लौट आती है जिसकी 'कुड़माई' का समाचार सुनकर मगरे वाले लड़के ने "एक लड़के को मोरी में ढकेल दिया, एक छाबड़ी वाले की दिन भर की कमाई खोई, एक कुत्ते पर पत्थर मारा और एक गोभी वाले के ठेले मे दूध उंडेल दिया। सामने नहाकर आती हुई किसी वैष्णवी से टकरा कर अंधे की उपाधि पाई।"

नव-धनाढ्य वर्ग की लालची और क्रूर प्रेम कहानियों के संसार मे यह मौलिक प्रेम आख्यायिका हो सकता है कि कुछ अप्रासंगिक मालूम पड़े, लेकिन जो प्रेम को उत्सर्गमय स्पर्श देना चाहते हैं वे लहनासिंह को हमेशा एक व्यापक प्रासंगिकता से देखने की कोशिश करेंगे।

'उसने कहा था' कहानी सिर्फ अन्तर्वस्तु की ऊर्जा के कारण ही नहीं बल्कि शिल्प की नफीज बुनावट के कारण भी बड़ी कहानी है। युद्ध की भयावहता, शत्रु पक्ष की चालाकियों, विदेशी भूमि की सीलन भरी खंदकों और घायलों को ढोने वाली गाड़ियो के बीच हंसी, गीत, प्रेम-स्मृतियों को कथ्य का हिस्सा बनाना और भाषायी उल्लास को उस गाम्भीर्य तक जाने देना जो मृत्यु की उदासी को वहन करता हुआ भी निस्संगता का अनुभव नही होने देता बल्कि देश की जमीन, वन-वनस्पतियों की सघन रिश्तेदारी से जोड़े रखता है।

कहानी के अन्त में उस जमादार लहनासिंह का मृत्यु-समाचार है जो बहुत सार्थक जिन्दगी के हिस्से को खोलता है। यह कोई मामूली खाकीवर्दी वाला जमादार लहनासिंह नही है—वह एक ऐसा जमादार है जो पूरी जिन्दगी के युद्ध में मौत को जिन्दगी से अधिक महत्त्वपूर्ण बना देता है। यह तथ्य रेखांकित करने के लिए है कि कहानी कोई मामूली शोकान्तिक नही है, वह ऐसी करुणा का हिस्सा है जो मौत के समय जिन्दगी का मतलब पहचानने देती है और प्रार्थना के समय की मोमबत्ती-सी लगती है।

गुलेरीजी की इस महत्त्वपूर्ण कहानी के सामने उनकी दूसरी दो कहानियो की कलात्मक बुनावट कमजोर और कथावस्तु एक आयामी है। यह अचरज-सा लगता है कि दो कहानियो के बाद गुलेरीजी की तीसरी कहानी इतनी संश्लिष्ट और कलात्मक रचाव की विशिष्ट कृति होगी क्योकि प्राय: लम्बे समय तक लेखक दुहराने के सिवा ज्यादा नही कर पाते। कलाकृतियों मे 'लम्बी छलांग' कठिन होती है लेकिन यह गुलेरीजी की अन्तर्दृष्टि थी कि वे एक परिपक्व जीवनानुभव तक पहुचकर उसे कला-रूप दे सके।

'सुखमय जीवन' और 'बुद्धू का कांटा' कुछ सूक्तियों जैसी कहानियां हैं, अचरज मे डालकर खुलती हुई, घटनाओं से जुड़ी, परिणाम को विश्वसनीय बनाने की कोशिश करती हुई! 'सुखमय जीवन' के लेखक जयदेवशरण वर्मा की साइकिल पंक्चर हो गई, पंक्चर हुई साइकिल को घसीटते-घिसटाते ये जा रहे थे कि एक लड़की मिली, सहानुभूति से घर खीच ले गई और पिता से मिलाया जो लेखक की पुस्तक 'सुखमय जीवन' के प्रशंसक थे। पिता का विश्वास था कि जयदेवशरण वर्मा की 'सुखमय जीवन' नाम की पुस्तक एक गहरे गार्हस्थ्य-जीवन के अनुभवों से गुजरे लेखक की है और इस तरह उनका विश्वास हो गया था कि वर्मा विवाहित हैं। इधर वर्मा उस उपकारी लड़की को न केवल चाहने लगे हैं,

शादी करने के लिए जिद कर रहे हैं, हाथ पकड़े हैं। लड़की, उसके पिता, वर्मा को इस शील रहित व्यवहार पर धिक्कार रहे हैं। लेकिन अन्त में यह मालूम हो जाता है कि लेखक वर्मा हैं, तब पिता मुस्करा कर कहते हैं—दोनों मेरे पीछे-पीछे चले आओ। वृद्ध बंगले की ओर चलने लगे—"उनकी पीठ फिरते ही कमला ने आंखें मूंदकर मेरे कंधे पर सिर रख दिया।"

'बुद्धू का कांटा' लम्बी और कई घटनाओं से बनी कहानी है। रघुनाथप्रसाद के विवाह से सिलसिला शुरु होता है, पिता ने जल्दी विवाह न करना तय किया है यद्यपि पड़ोसिन स्त्रियां रघुनाथ की मां को न जाने क्या-क्या सुना जाती हैं। प्रयाग से इन्टर की परीक्षा देकर घर लौटते प्रसाद धराउनी पर रुक जाते हैं जहां से वे इलाही के घोड़े पर बैठकर एक गांव तक आते हैं। "धूप चढ़ गई थी कि वे एक ग्राम पहुंचे। गांव के बाहर सड़क के सहारे एक कुआं था और उसी के पास एक पेड़ के नीचे इलाही ने स्वयं और अपने मोती के लिए विश्राम करने का प्रस्ताव किया" और इसी कुएं पर रघुनाथ ने लोटे को डोर से बांधने की सारी अनुभवहीनता का परिचय दिया—'डोर इस तरह बंधी कि कभी वह लोटे को एक सौ बीस अंश के कोण पर लटकाती कभी सत्तर पर' और यहीं पहली बार उसने गांव की वाक्चतुर महिलाओं की वे सब टिप्पणियां सुनीं जिनके चलते वह लगभग निःशब्द हो गया। भागवन्ती इन्हीं महिलाओं के झुण्ड में एक पन्द्रह-सोलह वर्ष की किशोरी थी जिसने रघुनाथ की वाक्शक्ति छीन ली। उसने कहा—वाहजी वाह, ऐसे बुद्धू के आगे भी कोई लहंगा पसारेगी—तब रघुनाथ को पीछे मुड़कर देखने की हिम्मत नहीं हुई।

गांव पहुंचने के तीसरे दिन रघुनाथ की भागवन्ती से फिर मुलाकात हुई—नदी घाट पर यह मुलाकात एक हादसे के साथ हुई—रघुनाथ नदी में डूब ही जाता यदि भागवन्ती न बचा लेती; तो भी रघुनाथ का पूर्व-आहत मन प्राण बचाने वाली लड़की के प्रति कृतज्ञ नहीं हुआ। उसने लड़की को पकड़ना चाहा और पकड़ भी लिया। धक्का-मुक्की हुई और तभी रघुनाथ ने देखा कि अगर भागवन्ती के कांटा न लगता तो वह उसे 'पिरागजी' (प्रयागजी) तक दौड़ाकर भी हाथ न आती। लड़के ने लड़की के पैर से दो इंच लम्बा कांटा निकाला—लड़की अंत में कांटा लेकर भाग गई।

संयोग कि इन्हीं अमित्रों की शादी हो गई। रघुनाथ भागवन्ती को वही बातें सुनाने लगा जो उस दिन कुएं पर उसने सुनी थी, लेकिन लड़की सन्नाटे और चुप्पी में डूब गई। अलगाव बढ़ने लगा, चुप्पी बढ़ती गई।

होली के दिनों में रघुनाथ भागवन्ती को निकट लाने की कोशिश में लगा रहा। अन्त में एक उदार क्षमा-याचना करते हुए उसने स्वीकार किया कि "वह वहशी था, अधूरा था, मनुष्य जब तक स्त्री की परछाईं नहीं पा लेता है तब तक

पूरा नही होता, मेरे बुद्धूपन को क्षमा करो, मेरे हृदय में तुम्हारे प्रेम का एक भयंकर काटा गड़ा है। तुम्हारी प्रेमदृष्टि से मेरा यह शूल हटेगा।" इसी निश्छलता से विभोर हुई भागवन्ती रघुनाथ के कंधे पर झूल गई। कोई शूल उनके मन में नही था, कोई दंश या ग्लानि उन्हें अलग नही कर रही थी।

दोनों कहानियों की कथा-वस्तु के सम्बन्ध में टिप्पणी करना अनावश्यक है—लेकिन दो बिन्दुओं पर प्रकाश डालना जरूरी है। एक, दोनों कहानियों में एक पन्द्रह-सोलह वर्ष की प्रखर लड़की से हमारा साक्षात्कार होता है। वह पुरुष पात्र को अपनी प्रत्युत्पन्नमति से चकित और लगभग हतप्रभ कर देती हैं। दोनों कहानियों की लड़किया गांव की हैं, लेकिन वे रसिक या रिझाने वाली गांव की 'गोरियां' नही हैं, निर्भीक और तुरत बुद्धि है—कहानियो के लड़के उनके सामने लाचार और बुद्धू से हैं। लड़कियों में रिरियाहट नहीं है, वे स्थितियों को समझती हैं और लड़कों पर उपकार करती है। लड़कों से निरन्तर छेड़-छाड़ करती हैं। लेखक की उदार दृष्टि के प्रति वे हमें आश्वस्त करती हैं।

दूसरी बात जो निरन्तर हमारा ध्यान आकर्षित करती है वह लेखकीय प्रखरता है—दोनो कहानियो में लेखक शुरू से ही दखलन्दाजी करते है बल्कि वे कहानियों को जिस तरह शुरू करते हैं, वह एक व्यंग्य-रचना की शुरूआत-सी लगती हैं।

दो उदाहरण—

(सुखमय जीवन) मेरा भी बुरा हाल था। एल-एल० बी० का फल अब की और भी देर से निकलने को था—न मालूम क्या हो गया था, या तो कोई परीक्षक मर गया था या उसको प्लेग हो गया था, उसके पर्चे किसी दूसरे के पास भेजे जाने को थे। बार-बार यही सोचता था कि प्रश्न-पत्रों की जांच किए पीछे सारे परीक्षकों और रजिस्ट्रारों को भले ही प्लेग हो जाए। अभी तो दो हफ्ते माफ करें। नही तो परीक्षा के पहले ही उन सब को प्लेग क्यों न हो गया।

(बुद्धू का कांटा) रघुनाथ प् प् प्रसाद त् त् त्रिवेदी या रुग्नात पर्शाद तिर्वेदी यह क्या?

क्या करें, दुविधा में जान है। एक ओर तो हिन्दी का यह गौरवपूर्ण दावा है कि इसमें जैसा बोला जाता है वैसे लिखा जाता है और जैसे लिखा जाता है वैसे बोला जाता है। दूसरी ओर हिन्दी के कर्णधारों का अविगत शिष्टाचार है कि जैसे धर्मोपदेशक कहते हैं कि हमारे कहने पर चलो, हमारी करनी पर मत चलो। वैसे ही जैसे वे हिन्दी के आचार्य लिखें वैसे लिखो जैसे वे बोलें वैसे मत लिखो, शिष्टाचार भी कैसा? हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति अपने व्याकरण कषायित कण्ठ से कहें 'पर्सोत्तमदास' और 'हृकिसनलाल' और उनके पिट्ठू छापें ऐसी तरह कि पढ़ा जाये—'पुरुषोत्तम अ दास अ' और 'हरि कृष्ण लाल अ'।

अजी जाने भी दो, बड़े-बड़े बह गए और गधा कहे कितना पानी। कहानी कहने चले हो या दिल के फफोले फोड़ने? रघुनाथप्रसाद के पिता का चरित्र-वर्णन करते समय का व्यंग्य द्रष्टव्य है—

हां, उसूलों के पक्के हैं। सुबह एक प्याला चाय पीते है तो ऐसा कि जेठ में भी नही छोड़ते और माघ में भी एक के दो नही करते। उर्द की दाल खाते हैं, क्या मजाल है कि बुखार मे भी मूंग की दाल का एक दाना खा जायं।

गुलेरीजी की तेज-तर्रार भाषा और हाजिर-जवाबी का पूरा मजा पनघट पर आता है जहां रघुनाथप्रसाद अनाड़ियों की तरह कुएं मे लोटा डाले बैठे हैं: स्त्रियां बुद्धू बना रही हैं और भागवन्ती एक से एक प्रखर, लगभग ध्वस्त करने वाले व्यंग्य वाक्य बोले जा रही है।

(पाठक इस बातचीत का पूरा मजा लेने के लिए 'बुद्धू का कांटा' पढ़ें)

यह तथ्य रेखांकित करने योग्य है कि 'बुद्धू का कांटा' कहानी पर, खास तौर पर उसकी भाषायी संगठना पर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र युग का जबरदस्त प्रभाव है। व्यंग्य का यह तेवर भी उस समय के लेखकों में देखा जा सकता है। दरअसल जिस तरह गुलेरीजी कहानियों की (इन दो कहानियों की) शुरूआत करते हैं, उनसे यह लगता है कि वे किसी निबन्ध का रचाव बांध रहे हों।

कहानियों के चलते वे सब राष्ट्रीय और सामाजिक सरोकार अन्तर्ग्रंथित हो गए हैं जो उस समय की वैचारिकी के हिस्से थे।

तीसरी कहानी 'उसने कहा था' में पहले की दोनों कहानियों की तेज तर्रार किशोरवय लड़की अनुपस्थित है। कथ्य और संवाद की नदी जैसे विलुप्त हो गई है और उसकी जगह एक बेहद शान्त, सुस्थिर, संश्लिष्ट रचनाधर्मिता की शुरूआत होती है। इस कहानी में वर्णन-विस्तार या कि घटना-फैलाव सिमिट कर एक जीवनानुभव में शामिल हो गया है। स्मृतियों का ऐसा सघन रचाव उस समय की दूसरी कहानियों में नहीं है और इस तरह गुलेरीजी की यह कथा लासानी है।

गुलेरीजी की तीसरी कहानी 'उसने कहा था' नयी कहानी के आंदोलन प्रवाह में फिलहाल अप्रासंगिक नही है। मनुष्य के पास प्रेम और उसे सार्थक बनाने के लिए जो उत्सर्ग बचा है वह लहनासिंह से हम तक आ जाए तो बुरा नहीं है।

**कविताओं से गुजरते हुए—**

गुलेरीजी की कवितायें पढने का शायद बहुत कम पाठको को अवसर मिला हो, उनकी कहानियों ने उनके कवि-व्यक्तित्व को प्रकट नही होने दिया। वे उस युग के विशिष्ट कवि थे भी नही।

'पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की कवितायें' संग्रह मे उनकी संस्कृत और हिन्दी भाषा मे लिखी कवितायें हैं। हिन्दी कविताओं में प्रमुख है—झुकी कमान,

*युवराज का आगमन, रवि, एशिया की विजयादशमी, जापान का सीमोल्लंघन,* आहिताग्निका।

कविताओं में, जो बात कहानियों में नहीं है, राष्ट्र की पराधीनता का गहरा सोच नजर आता है। एक ऐसा देश जिसका पुण्य-बल क्षीण नहीं हुआ, अहंकार रहित होकर जिसने विद्या को देश-देशान्तरों में बंटने दिया, जिसकी शौर्य-गाथा वैतालिकों ने गाई, यदि वह देश लालची, साम्राज्यवादियों की चरागाह बना हो तो कोई कवि चिन्ता-मुक्त कैसे रहेगा। यह चिन्ता गुलेरीजी की थी। इस चिन्ता को प्रकट करने में वह व्यग्य भंगिमा थी जो काव्य-शास्त्र में व्याजस्तुति अलंकार से प्राय: प्रगट हुई है।

इन कविताओं में 'स्वाधीनता के लिए तर्क' द्रष्टव्य है, कभी-कभी तो इतना कि जैसे स्वाधीनता एक विवादास्पद विषय हो जिसका एक पक्ष अंग्रेज हों। राष्ट्रीय काव्यधारा में भी 'स्वाधीनता के लिए यह तर्क पक्ष' मौजूद है, और इस तरह कि जैसे हमारे और अंग्रेजों के बीच जमीन-जायदाद का कोई टंटा हो।

दु:ख, तर्क और व्यग्य का हिस्सा बनी ये पंक्तियां ध्यान आकर्षित करती हैं।—

होती कहीं पर रामलीला
है पेट मे पर नहीं अब हा ! वसीला
हो पेट पूरित जभी, तब खेल सूझे
रोगी, ऋणी विजित, क्योंकर मोद बूझे

(एशिया की विजय दशमी)

कहां घी पावेगी ! अब सुखद गो-वंश न रहा,
ढकेगी काहे से सरस तनु जो कोमल महा !
मिलेगी रेजी तो, यह वह नहीं वल्कल सही
कलेजे में वेदी रच ग्रह प्रतिज्ञाग्नि धर ली
विलासों की मज्जा हवि अब बनेगी सहज मे
सदा स्वार्थी की तू बलिपशु भरेगी हृदय में।

(आहिताग्निका)

'झुकी कमान' कविता मे आह्वान है—किसानों का, ब्राह्मणों का, राजपूतों का, देशभक्त लोगों का कि वे पराधीनता के विरुद्ध खड़े हों, लिखा है।—

छोड़ो अधूरा अब यज्ञ ब्रह्मन्
वेदान्त परायण को बिसारो
विदेश ही का बलिवैश्वदेव
ओ तर्पणों में रिपु रक्त डारो

शस्त्रार्थ, शास्त्रार्थ गिनो अभी से
चलो दिखाओ, हम अग्रजन्मा
धोती सम्हाल, कुश छोड़, सवाण दौड़ो
आगे गई धनुष के संग व्योमवाणी।

व्यंग्य, वक्रोक्ति और व्याजस्तुति का—'स्वागत शार्दूलविक्रीडितम्' कविता में हृदयग्राही समावेश हुआ है।

घूमे थे जब ट्रान्सवाल अथवा आस्ट्रेलिया कैनेडा
'हूर्रे रूल ब्रिटानिया' तब कहीं गाया सुना आपने
मैं भी उत्सव हर्ष में यदि कहूं, 'वन्देप्रियंमातरम्'
हो जाता वह कर्णशूल कुछ को, हा कष्ट कैसे सहूं?

तुम्हारी सेवा हो, तन-पतन सेवा जतन से
तुम्हारी पूजा हो, मन-शमन से वा दमन से
तुम्हारी अर्चा हो, धन-निधन से या दहन से
तुम्हारी तोपायी, तन-मन धनों को नहिं गिने

राजा है सब घास-पास, कुचलो, चाहे न खाओ
मही हैं हम, रौंद दो, पर कभी खाओ हमें भी नहीं
खावें जो वृक, रीछ, जम्बूक, बने भाई सभी आपके
गैंडे वा गज हैं न! खूब करिए 'शार्दूलविक्रीडितम'

(स्वागत शार्दूलविक्रीडितम)

गुलेरीजी ने अपनी कविता में संस्कृत छन्दों का प्रयोग किया है—शिखरिणी, शार्दूल विक्रीडित, द्रुतविलम्बित, हिन्दी के दोहा छन्द तथा छन्द बेताल का उपयोग भी है। संस्कृत-अनुराग के कारण ये संस्कृत छंद गुलेरीजी को प्रिय रहे होंगे।

राजकुमारों के अध्यापक रहकर भी देश-भक्ति की तेजस्वी कवितायें लिखना पं० चन्द्रधर शर्मा की मानवीय आस्थाओं का प्रमाण है।

गुलेरीजी ने प्राचीन साहित्य, साहित्यिक शोध एवं लोक साहित्य अनुसंधान के लिए जो काम किया है वह सर्जनात्मक साहित्य के अतिरिक्त है।

इतने जीवट के साहित्यकार का फिर से मूल्यांकन आवश्यक है। कोई न कोई समानधर्मा इस काम को अवश्य महत्त्व देगा।

# सुधीन्द्र की कविता

कवि सुधीन्द्र का जन्म प्रथम महासमर के आसपास हुआ था और वे दूसरे महासमर के परिणामों से उपस्थित हुई समाज-रचना के कौतुक और विभीषिकाओं को देखते-देखते समाप्त हो गए। इन दोनों युद्धों के बीच के व्यक्तित्व का अंकन सरल नहीं है क्योंकि इधर जो समय व्यतीत हुआ है वह मनोविश्लेषकों की दृष्टि से अद्भुत, भय, आशंका, पीड़ा, संताप, चिन्ता और कुण्ठाओं से बोझिल है। टी० एस० इलियट ने 'मर्डर इन दी केथेड्रल' मे इस संताप का वर्णन करते हुए लिखा है "समय हम से अलग जा पड़ा है और हमारा दिमाग प्याज के छिलकों की तरह उतर गया है, क्योंकि हम एक अज्ञात भय से व्याकुल हैं जिससे हम आख नही मिला सकते।" ('साहित्य की नई मर्यादा' शीर्षक लेख से उद्धृत धर्मवीर भारती : आलोचना) तब दूसरी तरफ यह भी सत्य है कि दोनों महासमर के बीच का समय पराजित जनता के महान् अभ्युदय और पूजीवादी सभ्यता के अंतिम पतन की संधि-रेखा है। यू तो पुराने विश्वासों और आस्था के मूल्य बदल जाने के कारण व्यक्ति को जो आश्चर्य हुआ है उससे कम उसे पीड़ा भी नही हुई पर जिस शक्ति के साथ उसने अनागत को स्वीकार किया, बल्कि सम्पूर्ण अनागत को जिस नये विश्वास और दर्शन के साथ वरण किया, वह एकदम आनन्द और आकर्षण की महान् घटना है।

सच तो यह है कि दोनों महायुद्धों के बीच का मनुष्य जहां अपनी व्यथा, विवशताओं के कारण दुर्बल है वही अपनी अजेय सृजन लालसा के कारण महान् और महिमामय भी है। एक साथ मनुष्य की इतनी विकट वेदना की आत्मस्पर्शी पुकार तो दूसरी तरफ संतुलन के साथ सृष्टि के पुनर्निर्माण की क्रिया दोनों ही आश्चर्य-विमुग्ध कर देने वाली हैं। संक्रमण-काल में यह आस्था अनायास ही पैदा नही होती बल्कि भय तो यही रहता है कि अनास्था, अविश्वास, निराशा, मृत्यु और प्रतिक्रियावादी शक्तियां जीवन पर हावी न हो जायं। संक्रमण-काल में व्यक्ति आत्मपीड़न की जिन स्थितियों से गुजरता है वे एकदम असाधारण और

अनहोनी होती हैं। प्रतीत यही होता है कि जैसे आत्मा को अभी कोई खंड-खंड कर देगा किन्तु, फिर भी मनुष्य का अपराजित संकल्प, स्वतन्त्र विवेक उद्दंड 'अहम्' यूं ही नहीं टूट जाता और वह अभिव्यक्ति के नये-से-नये पथ निर्माण करता है। यही स्थिति दो महासमर के बीच के साहित्यकार की है। कई बार आलोचक का दृष्टिपथ इतना संकीर्ण और क्षुद्र होता है कि वह सृजनकार की इस 'आत्मदाह', आन्तरिक संघर्ष के समय की अनहोनी स्थिति और उसके प्रभाव को नजरन्दाज कर देता है। मेरा तो निवेदन है कि महासमर की यातना मनुष्य-मन की सबसे दुर्गम यात्रा की अप-स्मृति है। सारी सृष्टि के साहित्यकार के लिए यह द्विधा का समय है और यही कारण है कि कभी आत्मा के आलोक को खोकर साहित्यकार ने निराशा के स्वरों को गूथा और गाया तो कभी आलोक को पाकर उसने विश्वास के स्वर मुखरित कर दिए।

दरअसल बीसवीं शती के काव्य और कवियों पर अत्यन्त सहिष्णुतापूर्वक विचार होना आवश्यक है क्योंकि वे ऐसे समय में मनुष्य की आस्था को बल देते रहे हैं कि जब कि वह बिल्कुल ही टूट रही थी। यह सत्य है कि कई बार उनके प्रिय स्वप्नों की सृष्टि के ध्वंस होने से उनके आंसू छलक आए हैं पर कहना यही होगा कि संताप की इन घड़ियों में भी दुनिया के अधिकांश कवियों ने निष्कपट भाव से सृष्टि के नये सृजन की घोषणा की। सिसिल डे ल्यूइस के शब्दों में उसने निराशा में से जिन्दगी की चिनगारी ढूंढ़ी है और इस्पात में संगीत जगाया है। सुधीन्द्र के आलोचकों को यह स्मरण रखना होगा कि वे इस 'आत्मा के मंथन' कर देने वाले दो महायुद्धों के बीच के कवि हैं।

प्रारम्भ ही में महायुद्ध की चर्चा इसलिए भी अनिवार्य हो गई कि इसके साथ भारतीय स्वातंत्र्य का प्रश्न अविच्छिन्न भाव से जुड़ा हुआ है। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् उपनिवेशों की जनता का मन एक विलक्षण आक्रोश में संतप्त हो गया। भारतीय जनता के लिए यह संकट और संघर्ष का समय था। सारे राष्ट्र के जन जिस तीव्रता के साथ अपनी श्रृंखलाओं से मुक्त होना चाहते थे उतनी तीव्रता के साथ मुक्त नहीं हो पा रहे थे और साम्राज्यवादी शक्तियां अनेक दांव-पेंच लगाकर उपनिवेशों पर शोषण के दांत तीखे कर रही थीं। उधर रूस लगभग 1917 के जारशाही से मुक्त होकर पराजित मानवता का दृष्टिकेन्द्र बन चुका था तो इधर महायुद्ध में विजयी होने के उपरान्त भी अंग्रेजों की दुर्नीति ज्यों-की-त्यों थी। मुक्ति आन्दोलन के गर्भ से जिस एक तीसरी और महान् नैतिक शक्ति का अभ्युदय हुआ वह गांधीजी थे। गांधीजी के प्रभाव का वर्णन करते हुए नेहरूजी ने बिल्कुल ठीक लिखा है "एक विशाल छायामूर्ति की भांति गांधीजी भारत के इतिहास की आधी शताब्दी में पांव फैलाये खड़े हैं। यह मूर्ति भौतिक नहीं आध्यात्मिक है।"

गांधीजी की इस सुदीर्घ छाया में सारी मानस रचना को नयी छवि, नया

दर्शन, नया चिन्तन दिया। सारांश यही कि गांधीजी के इस नये नेतृत्व को राष्ट्र ने स्वीकार किया जिसकी गूंज स्पष्टतया साहित्य की रचना में धड़कने लगी। राष्ट्र के साहित्य-निर्माताओं ने अपनी-अपनी तरह इस धड़कन को धारण किया और अभिव्यक्ति दी। किन्तु जैसा मैंने निवेदन किया कि जिन शक्तियों से राष्ट्र के साहित्य-कर्मियों का मानस निर्मित हो रहा था—वह कोई एक घटना नही थी, वे अनेक घटनाएं थी, वह महासमर का संताप था, शोषण की पीड़ा थी, साम्राज्यवादी दस्युओं का अतृप्त उपनिवेशवाद था, अंग्रेजों की प्रथम महासमर के समय की गयी प्रतिज्ञा और उसे भंग कर देने का रोष था, गांधीजी का अदम्य आकर्षण था। सांस्कृतिक पराभव से मुक्त होने की कामना थी। सार यह कि एक नये व्यक्तित्व का जो उदय हो रहा था वह नया चिन्तन, नया समाज चाह रहा था। इस तरह अनेक घटनाओं, अनेक आकर्षणों से बना हुआ, बंधा हुआ साहित्यकार का मन कई तरफ, कई तरह से दौड़ रहा था। यह कहना सहज नहीं है और न सरल ही है कि किसी अमुक कारण से कोई अमुक कार्य घटित हो गया हो बल्कि कई बार एक रचना केकई कारण हो सकते हैं या एक कारण अनेक रूप से कार्य में प्रतिफलित हो सकता है। दुर्भाग्य से पिछली हिन्दी आलोचना कुछ इस तरह बढ़ती रही, कि जो समग्रता, व्यापकता उसमें आनी चाहिए थी नहीं आ पायी। आलोचना का यह प्रवाह एक तरफ 'कुत्सित समाज शास्त्रियों (Vulgar Sociologists) के द्वारा अवरुद्ध कर लिया गया और या फिर 'फ्रायडवादी कुंठा-शास्त्रियों' द्वारा बंधा रहा। इस तरह एक तरफ सृजन की अपरिसीम लालसा संकुचित हो गयी तो दूसरी तरफ आलोचना के व्यापक और शक्तिशाली तत्त्व स्पष्ट होकर सामने नही आये। किन्तु आज जो नयी आलोचना का सिद्धान्त है वह यही समग्रता है इसलिए हम इन्ही आधारो पर श्री सुधीन्द्र की काव्य मीमांसा करेंगे।

कवि सुधीन्द्र जैसा मैंने पहिले कहा है इन अनेक घटनाओं के प्रतिफलन है। वे एक तरफ राष्ट्रवादी कवियो के अनुवर्ती तो दूसरी तरफ गीतिकाव्य के अग्रणी कवियों में से थे। जिस समय उन्होंने काव्य सृजन प्रारम्भ किया उस समय श्री मैथिलीशरण जी गुप्त का वह छन्दोमय प्रश्न जो भारत-भारती में उठा वह सारे राष्ट्र मे व्याप्त हो गया—

"हम कौन है, क्या हो गये थे।
और क्या होंगे अभी।
आओ विचारें आज मिलकर।
ये समस्यायें सभी।"

इसी तरह कवि सुधीन्द्र के अग्रज कवि श्री माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' आदि उस साम्राज्यवादी शोषण के

विरुद्ध जिस सशक्त वाणी का प्रयोग कर रहे थे उसका आकर्षण कवि सुधीन्द्र के लिए कम महत्त्व का नही था। मैथिलीशरण जी वाले स्वर को पकड़कर कवि सुधीन्द्र ने 'जौहर' की रचना की, किन्तु 'जौहर' की रचना मे कवि ने संकीर्ण सम्प्रदायवाद का आग्रह ग्रहण नही किया है। प्रकाशचन्द्र गुप्त ने ठीक ही लिखा था कि मैथिलीशरण जी का यह 'हम' संकीर्ण था पर सुधीन्द्र ने जिस समय 'जौहर' का आख्यान चुना तो किसी संकीर्ण राष्ट्र नीति का आग्रह नही था बल्कि एक राष्ट्रीय शौर्य की घटना को छन्दोबद्ध करना था। 'जौहर' की भूमिका मे सुधीन्द्र ने स्वयं बडी निर्भीकता से स्पष्ट किया है—

"जौहर की कला भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध है। इस देश का दुर्भाग्य कहना चाहिए कि आज देशवासी अपने इतिहास तक को प्रस्तुत करने में झिझक जाते हैं।···मेरी आत्मा, किन्तु इस विचार से विद्रोह करती है। जौहर का लेखक 'जौहर' को हिन्दू-मुसलमान-वैमनस्य का अस्वस्थ वातावरण बनाने वाला नहीं, जीवन, अग्रगति, बल, बलिदान और मानव-प्रेम की अहिंसक भावना का पोषक मानता आया है।"

राजस्थान की वीर रमणियों ने शौर्य का जैसा परिचय 'जौहर' की ज्वाला में भस्म होकर दिया उसे सामन्तवादी विवशता का नाम देना थोड़ा दुराग्रह ही है। सत्य तो यह है कि इस बलिदान ने देश की मुक्तिकामी, स्वतन्त्रचेता शक्तियों को अलौकिक स्फूर्ति और साहस प्रदान किया। स्वतन्त्रता के जिस उद्दाम आवेग से प्रेरणा लेते हुए सुधीन्द्र ने इस काव्य की रचना की उसका आभास प्रारम्भिक पृष्ठ के छन्दों में स्पष्ट हुआ है।

"स्वतन्त्रता सम्पदा अतुल है,
यह जीवन है अल्प अहो।
प्राणो की आहुति देने मे,
क्यो संकल्प विकल्प कहो ?
स्वतन्त्रता शाश्वत वैभव है,
यह जीवन, यह जगत् अचिर।
जीवन बलि देने मे फिर क्यों,
नश्वर मन भय से अस्थिर ?"

'जौहर' का सारा काव्य किसी तरह के क्षुद्र अहंकार अथवा दुर्बलता को नहीं उभारता, किन्तु, एक ऐतिहासिक प्रसंग के शौर्य को चित्रित करता है। यह ठीक है कि सुधीन्द्र के इस खण्ड काव्य मे शब्द-शिल्प और काव्य-लाघव उभर कर नहीं उठा है फिर भी कई स्थानो पर एक ऐसी सकरुण अनुभूति, शब्द-सौष्ठव और प्रबन्ध-कौशल नजर आता है कि जिसे देखकर यह निश्चय के साथ कहा जा सकता

है कि शीघ्र ही एक उत्कृष्ट प्रतिभा का उदय होने वाला है।

'जौहर' को पढ़कर जो मैंने अनुभव किया उसे मार्क्सवादी आलोचना के हिन्दी-विधायक श्री रामविलास शर्मा ने दूसरी तरह कहा है, पर उससे यह प्रमाणित हो जाता है कि सुधीन्द्र अपने काव्य-शिल्प और कथन की ओजस्विता के कारण श्री अंचल, श्री सोहनलाल द्विवेदी की कोटि में आ गए। आलोचक श्री नंददुलारे वाजपेयी ने तो कवि सुधीन्द्र की इस काव्य प्रतिभा को राष्ट्र के अन्यतम श्रेष्ठ और समादृत कवियों के साथ स्थान दिया है। उन्होंने लिखा है, "पुरानी प्रशस्त धारा के कविगण भी काम करते जा रहे हैं। दिनकर भगवती चरण वर्मा, उदयशंकर भट्ट, रामकुमार वर्मा, नरेन्द्र, सोहनलाल द्विवेदी, जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द', अंचल, जानकीवल्लभ शास्त्री, मनोरंजन, आरसी, सुधीन्द्र, नीलकंठ-तिवारी, नेपाली आदि की रचनाएं अब भी प्रकाशित हो रही हैं।···इस सबका विवेचन भी नये इतिहास के लेखक को करना होगा।" (दृष्टव्य : आधुनिक साहित्य : नंददुलारे वाजपेयी : पृष्ठ संख्या 37)

'जौहर' के काव्यकार का यश शीघ्र ही सारे देश में व्याप्त हो गया। किन्तु इसका कारण इस आख्यान को छन्दोबद्ध करना नहीं था वल्कि एक ऐसे गुणात्मक परिवर्तन (Qualitative Difference) के कारण कि जिसे 'कविता का आभ्यान्तरिक प्रयाण' कहा जा सकता है। 'जौहर' खण्ड-काव्य के कुछ छन्द दृष्टव्य हैं—

"कल था जो अधरों में
वैभव की मुसकान लिये।
महल रो रहा था आंखों में,
आज अकथ आख्यान लिये।
पल-पल श्री शोभा करती थी,
लीला से श्रृंगार जहां।
दग्ध कथा अपनी कहते थे,
अब बिखरे अंगार वहां।"

('जौहर' पृष्ठ संख्या 203)

काव्य में इस प्रकार की लाक्षणिक अभिव्यंजना का प्रादुर्भाव हो जाने से सुधीन्द्र का कवि-व्यक्तित्व उभर रहा था। इसमें सन्देह नहीं है कि काव्य के ये नये चरण प्रसाद, पन्त आदि छायावादी कवियों की साधना के सुफल हैं, पर इसी छायावादी काव्य ने अपने उत्तरार्ध में जो व्यक्तिवादिता, रोमानी अभिव्यक्ति, स्त्रैण-कुंठा आदि का पोषण किया उसमें सुधीन्द्र शामिल नहीं हुए। यहां तक कि 'अमृत-लेखा' में सुधीन्द्र के गीतों पर रवीन्द्र की छाप चाहे अंकित हुई हो पर 'एकान्त संगीत' के गायक श्री बच्चन या नरेन्द्र शर्मा की भाव-शबलता कहीं भी

दृष्टिगत नही होती। मैं अभी 'अमृत-लेखा' के काव्य की चर्चा नहीं कर रहा हूं। ध्यान देने की बात यह है कि 'जौहर' की लाक्षणिक अभिव्यंजना सुधीन्द्र के गीतों मे क्रमशः कैसे फैलती गयी।

प्रकाशन की दृष्टि से 'जौहर' 1943 में प्रकाशित हुआ और 'प्रलय वीणा' कदाचित 1941 में, पर रचनाक्रम में, 'जौहर' पहिले और 'प्रलय वीणा' बाद में रची गयी है। 'प्रलय वीणा' की समालोचना करते हुए 1941 के 'जीवन-साहित्य' में श्री सद्गुरुशरण अवस्थी ने लिखा है—

"सुधीन्द्र जी प्रधानतः देश के और युग के कवि हैं। युग का उत्पीड़न उनमे है और उसके व्यक्तिकरण में वे अनुपम रूप से सफल हुए हैं।...उनकी कविताओं को छायावादी नही कहा जा सकता है। रहस्यवाद से भी वे अधिकतर दूर हैं। उनकी कोई भी कविता लोक मंगल के भीतर देश मंगल को छोड़कर नही चलती। ...उनकी प्रेम सम्बन्धी कविताओं में तूफानी बर्बरता नहीं है।...सुधीन्द्रजी के चित्र साफ और भाषा सुथरी है। उनमें प्रवाह प्रेषणीयता है। क्रान्ति के तूफान में बेलगाम उफान कही नहीं है।" लगभग इसी समय कदाचित् 'प्रलय-वीणा' के गीतों से क्रुद्ध होकर श्री रामविलास शर्मा ने सुधीन्द्र जी के लिए फतवा दिया "मृत्यु कामी कवियो मे भिन्न एक दल उनका है जो अपनी वासना को न दबा सकने के कारण समस्त संसार में प्रलय मचा देना चाहते हैं। प्रलय सम्बन्धी कविता इतनी हुई है कि उद्धरण अनावश्यक हैं। श्री सुधीन्द्र, अंचलजी मे अतृप्त वासना प्रलय बनकर आई है।" रामविलास जी को उद्धरण देने की आवश्यकता प्रतीत नही हुई अस्तु उद्धरण नही दिए अन्यथा किसी अन्य निष्कर्ष पर भी पहुँचा जा सकता था। किन्तु सुधीन्द्र पर यह आरोप अत्यन्त एकांकी है, सत्य तो यह है कि सुधीन्द्र मे बर्बर वासना के अनुताप मे विदग्ध होने की क्षमता नही थी। यदि उनमें कोई वासना थी भी तो उसका काफी सामाजिक-संस्कार हो गया था।

'प्रलय-वीणा' के कुछ गीतों में अवश्य ही आवेश के स्वर उद्दाम हो गए थे पर उस तरह की रचनाओ का प्रारम्भ उनसे कहीं पूर्व श्री नवीन 'एक भारतीय आत्मा' आदि कर चुके थे। इन कवियों में तथा इसी परम्परा के अनुवर्ती कवि सुधीन्द्र की रचनाओ मे जो विप्लव की भावना दृष्टव्य है वह किसी अदम्य वासना का प्रत्यावर्तन नही है बल्कि उन सभी 'मानवतावादी' कवियों में मिलती है जो देश के लिए सतापित होना जानते हैं। जिस समय ये 'विप्लव गान' गूंज रहे थे उस समय कदाचित् किसी को अवकाश नही था कि किसी आलोचक को जाकर 'कनसल्ट' कर लेता। उस समय तो यही भाव सारे वायुमण्डल में व्याप्त थे। ये चिनगारियां थी कि जिसे आप वासना का प्रत्यावर्तन कह दीजिए, आप पलायनवाद कह लीजिए, या उस राष्ट्रवादिता की संज्ञा दे दीजिए। सुधीन्द्र के पहले इस प्रकार की उग्र रचनाओं का एक समां बंधा था। नवीनजी की वे अग्नि

बरसा देने वाली पंक्तियां सारे देश में गूंज उठी थीं—

वरसे आग, जलद जल जाए;
भस्मसात भूधर हो जाए ।
पाप-पुण्य सद्-सद् भावों से
धूल उड़ उठे दाएं-बाएं ।
नभ का वक्षस्थल फट जाए,
तारे टूक-टूक हो जाएं ।
कवि कुछ ऐसी तान सुना दो,
जिससे उथल-पुथल मच जाए ।

इस प्रकार की रचनाओं में कोई वासना नहीं थी, कोई दमित आकांक्षाओं की तृप्ति भी नहीं थी । उस समय के कवि केवल दिवास्वप्न-दर्शी ही नहीं थे बल्कि राष्ट्रव्यापी सुख-दुख के सहगामी थे । 'प्रलय-वीणा' के गीतों का स्वर दमित वासना का स्वर नहीं है बल्कि एक अनुताप-दग्ध मानवतावादी कवि का स्वर है कि जो आस-पास मनुष्य की मर्यादा को अप्रतिष्ठित होता हुआ देख रहा था । इसी 'प्रलय-वीणा' के कुछ अन्य ऐसे भी गीत हैं जो सुधीन्द्र को 'वासनावादी' कवियों से अलग कर देते हैं । 'प्रलय-वीणा' की रचना के समय श्री नरेन्द्र का एक गीत 1939 के अक्तूबर 'हंस' में देखिए—

फिर फिर रात और दिन आते,
फिर-फिर होता सांझ सबेरा,
मैंने भी चाहा फिर आए—
बिछुड़ा जीवन साथी मेरा;
पर मेरे जीवन का साथी,
छूट गया सो छूट गया ।
रातों जगा, करवटें बदली—
सांसें गिन गिन नींद बुलाई
किन्तु न पूरा हुआ अधूरा
सपना, उचटा नींद न आई

कच्चे धागे सा सुख-सपना,
टूट गया सो टूट गया ।
पर मेरे जीवन का साथी,
छूट गया सो छूट गया ।

उसी 'हंस' में त्रिलोचन का एक अन्य गीत प्रस्तुत है—

उड़चल, उड़चल; मेरे पंछी, तेरा दूर बसेरा।
दिन उड़ता निज पर फैलाए,
बदल रहा जग बिना बताए,
दिन के संग चला चल, पीछे आता घोर अंधेरा।
सांस न लेने की वेला है,
प्रलय पर्व का यह मेला है,
फिर तेरा वह देश, जहां पर शेष न सांझ सवेरा।

अब इन दोनो गीतो की पृष्ठभूमि मे 'प्रलय-वीणा' के कवि श्री सुधीन्द्र का एक गीत उपस्थित है। —'नरेन्द्र' के गीत में निराशा और त्रिलोचन का पलायन दोनों ही सुधीन्द्र के गीत मे नही हैं।

तन-मन की इन रंग-रलियो मे,
चिर जीवन का ध्येय न भूलो।
जग जीवन की इन गलियो मे,
नित्य चिरन्तन श्रेय न भूलो॥
अपने पावन प्राण कलश को,
तन-मन के मधु अमृत से भर।
अविनश्वर के पूजार्चन मे,
धर दो उसको प्रेम पुरस्सर॥
अजर-अमर के आराधक तुम,
जड़ प्रतिमा के चरण न छू लो!
गायक, गीत स्वराराधन में,
आदि अनश्वर गेयं न भूलो!!

सुधीन्द्र सदैव ही बड़े ईमानदार कवि रहे हैं। उनमें 'गलदश्रु भावुकता' इस दर्जे की नहीं थी जो उन्हें आत्म-रत बनाकर छोड़ देती। अवश्य ही उन्होंने छायावाद का काव्यशिल्प ग्रहण किया था अभिव्यक्ति को अधिक सप्राण, स्फूर्ति-दायक बनाया था, किन्तु, उसमें व्यक्तिवादी वासना नहीं थी। छायावाद की अभिव्यक्ति और कुशल काव्यशिल्प से प्रभावित होने न होने की बात नही थी बल्कि समस्या यह थी कि इन सामग्री की उपयोगिता क्या हो? सुधीन्द्र छाया-वादी स्वप्न पुरासर अन्तर्मुखी नहीं हुए, वे 'प्रलय-वीणा' मे [illegible]
सम्पन्न होकर सामने आये। 'प्रलय-वीणा' के [illegible]
प्रभाव स्पष्ट हैं। यही जैसे सुधीन्द्र के दो [illegible]
प्राणो मे कवि बसा था वह रवीन्द्र को ..

था वह गांधीजी को समर्पित था। इन दोनों के बीच कशमकश थी। ये दोनों आकर्षण थे कि जिनके बीच सुधीन्द्र का मन बंधा हुआ था।

'प्रलय-वीणा' में सुधीन्द्र ने जो काव्य-शिल्प का प्रयोग किया वह 'अमृत-लेखा' में आकर निखर गया। 'अमृत-लेखा' का कवि छायावाद की प्रशस्त धारा का कवि है। उसमें अन्य छायावादियों की तरह प्रेम-विह्वलता या इसी प्रकार वायवी रोमान्स इत्यादि नहीं है। सुधीन्द्र के लिए यह निर्भय होकर कहा जा सकता है कि काव्य उनकी आत्मा की सिद्धि था वह उनका स्वभाव था—कविता किसी 'आग्रह' का वाहन नहीं था जैसी कि वह कुछ कवियों के लिए उस समय भी थी और जैसी कि वह कुछ कवियों के लिए आज भी है। किसी आग्रह का वाहन न होने से सुधीन्द्र की कविता में वह उत्कटता नहीं थी जैसे—शैली, कीट्स या वायरन जैसे सेक्सवादियों में मिलती है और न उसमें वह तिक्तता ही आई जो पिछले दिनों मार्क्सवादी नागार्जुन, शंकर शैलेन्द्र या उर्दू के कुछ कवियों में आती चली थी, किन्तु इसके विपरीत कई बार यों प्रतीत होता है कि जैसे सुधीन्द्र में काव्य-शिल्प के प्रति एक विशेष मोह, एक आसक्ति भाव जाग रहा हो। 'अमृत लेखा' के कई गीत काव्य-शिल्प के कारण प्रिय हुए हैं और उन पर रवीन्द्र का प्रभाव स्पष्ट है। 1941 के लगभग सुधीन्द्र रवि बाबू के गीतों का अनुवाद कर रहे थे। 1941 के कवि 'जीवन-साहित्य' में उनका 'रवीन्द्रनाथ का युग-दर्शन' निबन्ध प्रकाशित हुआ। इस निबन्ध में कवि सुधीन्द्र के अनुवादक का प्रखर रूप दृष्टव्य है। एक नमूना उपस्थित करता हूं :—

जे थाय थाके सवार अधम हमे दीन,
सेइ खाने जे चरण तोमार राजे,
सवार पिछे, सवार नीचे, सब हरादेर माझे
(हैं जहां अधम दीनातिदीन,
है वहां तुम्हारे चरण आज
सबके पीछे सबके नीचे
जनगण मे है राजाधिराज।)

इस निबन्ध में जो कुछ चुना गया है उससे प्रतीत होता है कि सुधीन्द्र 'नर-नारायण' की वन्दना को कितनी उत्कटता के साथ संजो रहे थे। 'अमृत-लेखा' पुस्तकाकार तो सम्वत् 2001 मे प्रकाशित हुई किन्तु यह कहा जा सकता है कि 'अमृत-लेखा' के गीतों पर रवि बाबू के काव्य शिल्प की छाप स्पष्ट उभर आई। आखिर रविबाबू के इस प्रभाव का ऋण किस पर नहीं है? किन्तु सुधीन्द्र पर जो यह प्रभाव अंकित हुआ उसकी मर्यादा है। मैंने निवेदन किया है कि सुधीन्द्र पर एक अन्य व्यक्तित्व भी व्यापक प्रभाव डाल रहा था—गांधी। 'अमृत लेखा' के

उड़चल, उड़चल; मेरे पंछी, तेरा दूर बसेरा।
दिन उड़ता निज पर फैलाए,
बदल रहा जग बिना बताए,
दिन के संग चला चल, पीछे आता घोर अंधेरा।
सांस न लेने की वेला है,
प्रलय पर्व का यह मेला है,
फिर तेरा वह देश, जहां पर शेष न सांझ सवेरा।

अब इन दोनों गीतों की पृष्ठभूमि में 'प्रलय-वीणा' के कवि श्री सुधीन्द्र का एक गीत उपस्थित है। —'नरेन्द्र' के गीत मे निराशा और त्रिलोचन का पलायन दोनों ही सुधीन्द्र के गीत मे नही हैं।

तन-मन की इन रंग-रलियो मे,
चिर जीवन का ध्येय न भूलो।
जग जीवन की इन गलियों में,
नित्य चिरन्तन प्रेय न भूलो॥
अपने पावन प्राण कलश को,
तन-मन के मधु अमृत से भर।
अविनश्वर के पूजार्चन मे,
धर दो उसको प्रेम पुरस्सर॥
अजर-अमर के आराधक तुम,
जड़ प्रतिमा के चरण न छू लो!
गायक, गीत स्वराराधन मे,
आदि अनश्वर गेय न भूलो!!

सुधीन्द्र सदैव ही बड़े ईमानदार कवि रहे हैं। उनमे 'गलदश्रु भावुकता' इस दर्जे की नही थी जो उन्हें आत्म-रत बनाकर छोड़ देती। अवश्य ही उन्होंने छायावाद का काव्यशिल्प ग्रहण किया था अभिव्यक्ति को अधिक सप्राण, स्फूर्ति-दायक बनाया था, किन्तु, उसमे व्यक्तिवादी वासना नही थी। छायावाद की अभिव्यक्ति और कुशल काव्यशिल्प से प्रभावित होने न होने की बात नही थी बल्कि समस्या यह थी कि इस सामग्री की उपयोगिता क्या हो? सुधीन्द्र छायावादी स्वप्न चुराकर अन्तर्मुखी नही हुए, वे 'प्रलय-वीणा' में अधिक शक्ति-सम्पन्न होकर सामने आये। 'प्रलय-वीणा' के सुधीन्द्र पर गांधीजी और रवीन्द्र के प्रभाव स्पष्ट हैं। यही जैसे सुधीन्द्र के दो ध्रुव हैं, दो प्रेरणा-केन्द्र। सुधीन्द्र के प्राणों में कवि बसा था वह रवीन्द्र को समर्पित था, सुधीन्द्र के प्राणों में जो मनुष्य

था वह गांधीजी को समर्पित था। इन दोनो के बीच कशमकश थी। ये दोनों आकर्षण थे कि जिनके बीच सुधीन्द्र का मन बंधा हुआ था।

'प्रलय-वीणा' मे सुधीन्द्र ने जो काव्य-शिल्प का प्रयोग किया वह 'अमृत-लेखा' में आकर निखर गया। 'अमृत-लेखा' का कवि छायावाद की प्रशस्त धारा का कवि है। उसमे अन्य छायावादियों की तरह प्रेम-विह्वलता या इसी प्रकार वायवी रोमान्स इत्यादि नही है। सुधीन्द्र के लिए यह निर्भय होकर कहा जा सकता है कि काव्य उनकी आत्मा की सिद्धि था वह उनका स्वभाव था—कविता किसी 'आग्रह' का वाहन नही था जैसी कि वह कुछ कवियों के लिए उस समय भी थी और जैसी कि वह कुछ कवियों के लिए आज भी है। किसी आग्रह का वाहन न होने से सुधीन्द्र की कविता में वह उत्कटता नही थी जैसे—शैली, कीट्स या बायरन जैसे सेक्सवादियों में मिलती है और न उसमें वह तिक्तता ही आई जो पिछले दिनों मार्क्सवादी नागार्जुन, शंकर शैलेन्द्र या उर्दू के कुछ कवियो मे आती चली थी, किन्तु इसके विपरीत कई बार यों प्रतीत होता है कि जैसे सुधीन्द्र में काव्य-शिल्प के प्रति एक विशेष मोह, एक आसक्ति भाव जाग रहा हो। 'अमृत लेखा' के कई गीत काव्य-शिल्प के कारण प्रिय हुए हैं और उन पर रवीन्द्र का प्रभाव स्पष्ट है। 1941 के लगभग सुधीन्द्र रवि बाबू के गीतों का अनुवाद कर रहे थे। 1941 के कवि 'जीवन-साहित्य' मे उनका 'रवीन्द्रनाथ का युग-दर्शन' निबन्ध प्रकाशित हुआ। इस निबन्ध मे कवि सुधीन्द्र के अनुवादक का प्रखर रूप दृष्टव्य है। एक नमूना उपस्थित करता हूं:—

जे थाय थाके सबार अधम हमे दीन
सेइ खाने जे चरण तोमार राजे
सबार पिछे, सबार नीचे, सब हरादेर माझे
(हैं जहां अधम दीनातिदीन
है वहां तुम्हारे चरण आज
सबके पीछे सबके नीचे
जनगण मे है राजाधिराज।)

इस निबन्ध में जो कुछ चुना गया है उससे प्रतीत होता है कि सुधीन्द्र 'नर-नारायण' की वन्दना को कितनी उत्कटता के साथ संजो रहे थे। 'अमृत-लेखा' पुस्तकाकार तो सम्वत् 2001 मे प्रकाशित हुई किन्तु यह कहा जा सकता है कि 'अमृत-लेखा' के गीतों पर रवि बाबू के काव्य शिल्प की छाप स्पष्ट उभर आई। आखिर रविबाबू के इस प्रभाव का ऋण किस पर नही है? किन्तु सुधीन्द्र पर जो यह प्रभाव अंकित हुआ उसकी मर्यादा है। मैंने निवेदन किया है कि सुधीन्द्र पर एक अन्य व्यक्तित्व भी व्यापक प्रभाव डाल रहा था—गांधी। 'अमृत लेखा' के

सौन्दर्यदर्शी कवि में इसी प्रभाव के कारण एक विशेष चिन्ता, एक विशेष चिन्तन की धारा बहती नजर आती है। 'अमृत-लेखा' मे यह चिन्तन एक गहरी करुणा और कुछ जीवन के गम्भीर प्रश्नों को लेकर समा गई है। कहीं-कहीं इस चिन्ता का परिणाम यह हुआ है कि उसने गीतों का स्वर भंग कर दिया है। पर इतना बिल्कुल स्पष्ट है कि इन गीतों के गायक का मन समृद्ध और संस्कारवान है।

'अमृत-लेखा' के बाद के गीतो मे कई धारणायें, कई मोड़ हैं। वैसे तो 'अमृत-लेखा' के तमाम गीतों में एक ही जिज्ञासा है, एक ही प्रश्न है, जो भारतीय दर्शन का प्रधान स्वर है। जीवन और मृत्यु की सीमाओं के पार जो अनश्वर है, जो अनाम है वह क्या है? किन्तु इस प्रश्न को सुधीन्द्र ने इन गीतों में कई तरह से गाया है, अनेक प्रकार से आत्मा को आन्दोलित करने का प्रयास किया है। 'अमृत-लेखा' के कुछ गीतो में तीव्र प्रश्न है—

अमर जो न मुझे करे वह दान लेकर क्या करूंगा?
अक्ष पर अपने निरन्तर
घूमता मै चक्र बनकर,
लक्ष्य अपना पा सकूंगा
प्राण क्या निज लक्ष्य खोकर?
प्रेय दो तो दो मुझे मै प्राण लेकर क्या करूंगा?

(गीत दो)

अमर प्राणों की अचिरता दी मुझे उपहार मे क्यों?
मुक्ति थी इतनी मनोरम
और परवशता मरण सम,
कर लिया बंदी चिरन्तन्
घेर मुझको प्यार में क्यों?

(गीत तीन)

आठवें गीत मे इसी तरह की चिन्ता और चिन्तन-निष्ठा द्रष्टव्य हैं:

क्या दू मैं उपहार में?
यह सांसो का कोमल बन्धन
तोड़ सकेगा कब यह तन-मन?
लगी हुई आत्मा की निधि जीवन के व्यापार में
क्या दू मैं उपहार मे?

आत्मा का यही संघर्ष, यही सनातन प्रश्न बारहवें गीत में फिर मुखरित

हुआ है:

क्यों चूमता अमर है इन मृत्तिका कणों को ?
इस मृत्तिका कलश में
पीयूप पेय भर-भर
निशिदिन उंडेलता है क्यों मृत्यु के चरण पर
क्यो चूमता अधर है इन मृत्तिका कणों को ?

जीवन यदि इतना क्षुद्र है, असत्य है, तो फिर उसे रचा क्यो गया है ? शरीर यदि एक मृत्तिका का कलश है तो उसमें यह आत्मा का पीयूप क्यों उंडेला गया है ? यही खोज, यही प्रश्न 'अमृत लेखा' के गीतों में कई जगह गुंजरित है (द्रष्टव्य गीत संख्या 33,34,41,42,48)

'अमृत लेखा' मे यह प्रश्न ही नही है, कई स्थलों पर विश्वास भी है, प्रश्न वहा समाप्त हुआ-सा है। यह विश्वास बल्कि यह धारा सुधीन्द्र की अपनी है। मृत्युकामी या रोमान्सवादी कवि के लिए न तो प्रश्न है और न उसका समाधान, किन्तु सुधीन्द्र का जो आत्म-मंथन था उसका स्वर स्वस्थ है क्योंकि अन्तिम विजय विश्वास की है। अमृत लेखा का प्रथम गीत प्रस्तुत है—

अमर जीवन को मिटा देंगे नही शत शत मरण ये !
कुन्ज छाया मय बने है
जबकि पग पग पर मनोरम
लग नही सकता निमिप भर
यह विपम पथ दीर्घ दुर्गम
पथ चिरन्तन को छिपा देंगे नही लघु लघु चरण ये !

इसी विश्वास के कारण 'अमृत-लेखा' के प्रसिद्ध गीत 'दान का प्रतिदान तुमको दे रहा हूं' की रचना हुई है। इस गीत के अन्तिम पद का काव्य-शिल्प और उसी के साथ आत्मा की विराट छवि का सौन्दर्य दर्शनीय है—

मृत्तिका के कुछ कणो मे
लिया अमृत बांध मैंने !
कलश के कुछ बिन्दुओं मे
सिन्धु पाया साध मैंने।
अमृत बिन्दु रहे कहां अब ?
श्याम सौरभ बस गया है
पुतलियों में है चुराया

मधुर रूप अगाध मैंने
कण मुझे तुमने दिया
मैं प्राण तुमको दे रहा हूं।
दान का प्रतिदान तुमको दे रहा हूं।

32वें गीत मे सुधीन्द्र ने जो 'प्रलय-प्रणय' का समारोह एक साथ आयोजित किया है वह भी एक ऐसे विश्वास के कारण ही है जो जीवन के प्रति अगाध आस्था का परिणाम होता है।

'अमृत-लेखा' के गीतों में कुछ छायावादी तरीके मे कई जगह सामाजिक दायित्व का संकेत मिलता है। दृष्टव्य है—

आज तन का कर रहा हू
मैं रुचिर शृंगार नव-नव
किन्तु बलि पंथी बनूगा
कल उठे जयघोष, जनरव,
जन-जनार्दन के चरण में
शीश यह उपहार भी है
प्रणय मे मेरे प्रलय का प्यार भी है।

एक अन्य गीत मे मिट्टी के प्यार करने का आग्रह है—

तुम सिखा रहे हो बार-बार
मैं इस मिट्टी से करूं प्यार

इसके अतिरिक्त सरल भाव से लिखे कई प्रणय गीत हैं। इन प्रणय गीतों में आशा और निराशा, जीवन के प्रति उद्दाम विश्वास और कहीं-कहीं गहरी निराशा की अभिव्यक्ति है। 'अमृत-लेखा' के इन गीतों के साथ कवि सुधीन्द्र का एक व्यक्तित्व बन गया और इसी के साथ उनकी काव्य-रचना (शैली) का एक रूप निर्धारित हो गया। 'अमृत-लेखा' मे जो 'आत्म-मंथन' प्रारम्भ हुआ था, प्रतीत होता है कि वह सुधीन्द्र की प्रकृति का अंश था। सृष्टि के प्रति, जन्म के प्रति, ईश्वर के प्रति जो जिज्ञासा 'अमृत-लेखा' में प्रारम्भ हुई, उसी की छवि उनके आधुनिकतम गीतों में दृष्टव्य है।

'अमृत-लेखा' के बाद सुधीन्द्र ने अनेक गीत लिखे। पिछले वर्षों में उनके मन का संघर्ष जीवन और मृत्यु से अलग होकर कुछ व्यक्ति और समाज के प्रश्न सुलझाने में लगा था। इधर आलोचकों ने जो नई-नई दीवारें चुनी, जिन नए मापदण्डों से काव्य-शरीर को नापना शुरू किया और जो 'मजदूर-किसानो' की दुहाई देकर कविता को सीमित करने की चेष्टा की गई, उससे शायद सुधीन्द्र

व्यथित हुए। सामाजिक दायित्व से छूट की कामना उनकी नही थी लेकिन साहित्य समाज या राजनीति के हाथ का शस्त्र हो जाय यह उन्होंने नहीं चाहा। उन्होंने कविता को 'युगवादी' और 'युग-युगवादी' कहकर एक नई विभाजन रेखा तैयार की थी। इसके बावजूद भी सुधीन्द्र का मन दुराग्रही नही था। संसार का ताप उनको दग्ध करता था, मृत्तिका की पुकार उन्हें विकल करती थी, प्रणय उनको रोमांचित करता था, करुणा से उनका अन्तर द्रवित होता था, आशा से वे परिपूर्ण थे पर निराशा की भी शक्ति को स्वीकार कर रहे थे। किसी एक तरह के गीत उन्होंने नही लिखे। उनकी नई रचनाओं में 'मिट्टी की कहानी' और 'कल्पना के पंख और संसार की जंजीर' उल्लेखनीय हैं।

इस तरह सुधीन्द्र से दरअसल राजस्थान की कविता की पहचान बनती है और वे हिन्दी कविता के प्रमुख कवि होते हैं।

# सेठिया जी की कविता समझने के सिलसिले में

कवि कन्हैयालाल सेठिया की कविता पर पहले और इन दिनों बहुत कम चर्चा हुई है, क्योंकि समय के जिन दबावों से चिन्तित और आक्रान्त होकर इधर कविताएं लिखी गई हैं, वे सेठिया के सरोकार नही हैं। उनकी कविताएं आज की कविताओं से इतनी भिन्न है कि शायद उन पर बात करने की ज्यादा जरूरत न समझी गई हो। लेकिन किसी भी कवि को सिर्फ इसलिए धकेल कर बाहर निकाल देना, क्योंकि उसने समय के साथ होकर चलना अस्वीकार किया है, कविता लिखने के अनेक कारणो मे से कुछ ही कारणो को महत्त्व देना होगा। मेरी दृष्टि में कविता रचना की प्रक्रिया तलाश करते समय कभी भी यह कृपणता सार्थक नही होगी। कविता रचना किसी भी कवि की बड़ी जरूरत है और हमारी भी सबसे बड़ी जरूरत यह है कि हम उस महत्त्वपूर्ण जरूरत को तलाश करते रहें। एक अच्छी कविता तलाश करने के सिलसिले में कवि को आन्दोलित करने वाले सारे प्रभावों की जांच करते हुए यदि हम न थकें तो अच्छा हो।

कन्हैयालाल सेठिया ने अपने काव्य संकलनो पर भूमिका या 'आमुख' जैसा कुछ नही लिखा है। किन्हीं पुस्तकों पर रामनिवास ढंढारिया ने दो शब्द लिखे हैं लेकिन वे कवि के मित्र की प्रशंसापूर्ण साक्षिया हैं।

राजस्थान की हिन्दी कविता शोध-ग्रन्थ मे कवि प्रकाश आतुर ने सेठिया को प्रतिष्ठित करते हुए लिखा है—"वे मूलत: चिंतक हैं और भारतीय वेदान्त की निगूढ़तम अभिव्यक्तियो को सरस एवं हृदयग्राही शब्दों तथा शैली मे अभिव्यक्त करने मे निष्णात हैं।"

इसी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ में प्रकाश आतुर ने सेठिया की कविता के कथ्य और शिल्प के सम्बन्ध में कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर को उद्धृत किया है—"आप चिंतन के कलाकार हैं।···*आपके चिंतन की पृष्ठभूमि संस्कृति, धर्म, दर्शन है।*"

"आपके गीत भी पुष्ट हैं क्योंकि उनका चेहरा उनकी जाति का है, जिससे वे तुरन्त पहचाने जाए। उनके चहरे की चमक गहरी है पर उसके धड़कनों के स्वर

इतने झीने हैं कि नगाड़ा सुनने के आदी कान उन्हें भले ही न सुन पायें पर वीणा का रस पहचानने वाले कनरसिया तो पहली कड़ी पर झूम उठे।" (द्रष्टव्य : राजस्थान की हिन्दी कविता, पृ० 192)

कन्हैयालाल सेठिया से किस प्रसंग मे मिलना हुआ यह याद नहीं आता लेकिन वे सप्त किरण (सात कवियों का संकलन) प्रकाशन के दिन थे। इस संकलन के सारे कवि तरुण थे और वे राजस्थान के साहित्य की नयी पहचान बनाने के लिए कोशिश कर रहे थे, राजनीति में जिस तरह रियासतों को एक करने के प्रयत्न हो रहे थे, साहित्य मे 'सप्त किरण' उसी इकट्ठे संकल्प की शुरूआत थी।" सप्त किरण के कवियों का यह भी दुःख था कि राजस्थान के अतीत की यश-गाथा गा कर उसके वर्तमान को मामूली बनाया जा रहा था। आज भी बहुत-से साहित्य-कर्मियों को यह भी पीड़ा होनी चाहिए कि हमारा भविष्य असाधारण नही निकला। शायद हमारा रचना कर्म उस कोटि का न रहा हो या शायद दूसरे कारण हों। बहरहाल सप्त किरण प्रकाशित करने के दिन कुछ उत्साह और आवेग के दिन थे और तब उस कवि से मुलाकात हुई जिसे कन्हैयालाल सेठिया कहते हैं—शान्त, मितभाषी और दूर आसमान से लगी दृष्टि वाला कवि।

मैंने उनसे कविताएं मांगी। सेठिया जी ने कविताए देने मे न तो कोई हुज्जत की, न कोई शर्त लगाई, न दूसरी किसी तरह की जिज्ञासा प्रगट की। एक साथी कवि पर जितना विश्वास, जितनी आत्मीयता जाहिर की जा सकती थी उस सब के साथ उन्होंने बीस कविताएं और पच्चीस रुपयों का मनिआर्डर भेज दिया। इन बीस कविताओं में से बारह कविताएं मैंने चुन कर 'सप्त किरण' मे प्रकाशित की।

आज जब कि मैं सेठिया जी के लगभग एक हजार गीत पढ़ चुका हूं तब सिर्फ कौतूहलवश उन बारह गीतों को फिर से 'सप्त किरण' से निकाल कर पढ़ता हूं, मुझे बहुत अचरज होता है कि बाद में जिस कविता का पूरा सघन वृक्ष फैला उसका बीज यहां है। कविता में दरअसल मनुष्य का अपरिचित मिजाज और उसकी सहजता या संश्लिष्टता बीज रूप में छिपी होती है, यह मैं 'सप्त किरण' में छपी 'फूल विहंसता शूल मौन है' कविता से लगाकर आज तक छपी कविताओं में गुंथे धागों की तरह देख पाता हूं। वह सवाल 'सत्य कौन है, भूल कौन है' सेठिया की कविता का बुनियादी सरोकार है और इसी को समझने के लिए वे बेचैन, आकुल और आतुर नजर आते हैं। इस प्रश्न को जहां उठाते हैं वहां उनकी कविता सहसा एक दीप्ति ग्रहण करती है। लेकिन उसकी बात विस्तार से बाद में करना ठीक होगा।

कन्हैयालाल सेठिया की कविता का मिजाज सामान्यतया शांत अन्तर्मुखी, जिज्ञासातुर और इधर कुछ निष्कर्षात्मक होता चला जाता है, लेकिन प्रारम्भ में

वे उस काव्य-चेतना के हिस्से रहे हैं, जो स्वाधीनता के लिए फिरंगियों को ललकारती, क्रोध व्यक्त करती रही है। सारे देश के कवियों ने जिस दिलेरी के साथ स्वाधीनता के नवीन सवाल को उठाया वह सेठिया का सवाल भी था, और उन्होंने स्वयं को सम्बोधित करते हुए 'अग्नि वीणा झनझना दो' जैसा गीत लिखा।

आजादी के दौर में लिखी हुई कई कविताओं को पढ़कर मुझे ऐसा लगा है कि वह जैसे अराजकतावादी कवियों का सपना हो। नवीन जी की 'कवि कुछ ऐसी तान सुना दो जिससे उथल-पुथल मच जाए' कृति प्रसिद्ध है। उस तरह की कविताएं सेठिया जी ने लिखी—

अग्नि वीणा झनझना दो
आज ताण्डव नृत्य होगा
हिल उठे हैं प्राण कवि के
आज भीषण कृत्य होगा
चू पड़ेंगे टूट तारे
चांद चकनाचूर होगा
कान के परदे फटेंगे
हास इतना क्रूर होगा

वैसे ये दोनों ही कवि गांधीवादी रहे हैं, लेकिन हो सकता है कि पराधीन देश के लिए उनके पास शायद कोई सुधारवादी व्यवस्था का विकल्प न हो और यह भी हो सकता है कि गांधीजी की अहिंसावादी वैचारिकी उनके अचेतन मन को कहीं न कहीं नाकाफी और दुःखपूर्ण लगती रही हो। जो हो, सेठिया ने उस समय आक्रोश की नयी कविताएं लिखी, उन सबका ध्येय ऐसी महाक्रांति का गीत लिखना था जो देश के सोए पावन उज्ज्वल प्राणों को जगा दे।

'अग्नि वीणा' की कई कविताओं में राजस्थान के पुण्यवान पूर्वजों का स्मरण किया गया है और उनको उन सारे शौर्यवान प्रतीकों की याद दिलाई है जो उनके अकर्म और आलस्य पर शर्मिन्दा है।

कुछ रचनाएं ऐसी भी हैं जिनमें सुख-दुःख की मोहक और त्रासदायक स्थितियों का विवरण देते हुए कवि अपने श्रोताओं को स्वतंत्रता देता है कि वे पराधीन रहते हुए पायल की झनकारें सुनें या कांटों के रास्तों पर चलें, बिखेरते हुए शोले, शूलों और लपकती ज्वालाओं का सामना करें और स्वाधीन हों। कवि के लिए स्वाधीनता ही एक रास्ता है और वह अपने पाठक को भी इस रास्ते पर चलने के लिए प्रेरित करता है। ऐसी कविताएं सुधीन्द्रदा ने 'प्रलय वीणा' में लिखी हैं। सेठिया जी के लिए भी एक बलिदान की घड़ी को लौटा देना सम्भव

नही था इसलिए कविता भाषा का सम्मोहन (जो सुधीन्द्र दा का कौशल रहा) छोड़कर उन्होंने लिखा—

> प्रेयसि कर भुज बंधन ढीले
> तुम युग-युग के बंधन खोलो
> बुला रही रणभेरी मुझको
> रुका रहूं मैं कैसे बोलो
> प्रेयसि मुझको बुला रही तुम
> फूल सेज पर कैसे आऊं
> शूल सेज पर सोई है मां
> क्या इसको विस्मृत कर जाऊं ?

'अग्नि वीणा' का प्रथम संस्करण 1942 में निकला था और दूसरा तीस साल के बाद 1972 मे। इस संकलन में कवि की बीस रचनाएं संगृहीत हैं।

एक और अवसर आता है जब कन्हैयालाल सेठिया की कविताओं मे आवेश और उग्रता नजर आती है। यह अवसर चीन-भारत का युद्ध है। इस अप्रत्याशित युद्ध पर सारा देश क्षुद्ध होता है, कविताओं में भी वह क्रोध अंकित होता है लेकिन ज्यादातर रचनाओ मे विश्व की प्रसिद्ध युद्धविरोधी रचनाओं का स्वर नही होता। हमारी कवितायें युद्धविरोधी न होकर चीनविरोधी होती हैं और इसलिए सामयिक आवेश का एक हिस्सा होकर रह जाती हैं। हजारों रचनाओ मे माओ-त्से तुंग और चाऊ-एन-लाई को धिक्कारने और गालियां देने की प्रतिद्वंद्विता नजर आती है। हजारों कविताओं मे दर्पोक्तियां, बड़बोलापन और क्रोध की अतिशय नाटकीयता मौजूद है। उस दौर में लिखी सेठिया जी की रचनायें भी इन कमजोरियों से नही बच पाती। 'आज हिमालय बोला'—कविता-संग्रह में तात्कालिक आवेश से प्रभावित कुछ रचनायें द्रष्टव्य हैं—

> तुम चाऊ बटमार उचक्के
> अब तक खाये धक्के-मुक्के
> आज पड़ा है यम से पाला देगा पार उतार
> सिपाही दुश्मन को ललकार

(सिपाही का गीत, पृष्ठ-55)

> जान बूझकर पड़े अक्ल पर
> कैसे माओ पत्थर

भला चाहते तो टांगों में
जाओ पूंछ दबाकर

(बर्बर चीन)

बचकर न वापिस जाये निकल ये
खूब कसकर दुहत्थड़ जमाओ
चमार चाऊ मुर्दा नहीं हम
जिन्दा जवाहर का हिन्द पाओ

(समय का तकाजा)

पकड लो इसकी चुटिया
न झिझको, न घबराओ
इस मर्ज की एक ही दवा है
न इससे बतियाओ
न इसको पतियाओ
बस बिना रुके धकियाओ, लतियाओ

(रोगी भाओ)

अन्न नही पर झूठ बिक रहा
पैकिंग के बाजारों में
कालिख पोते सत्य चीखता
चाऊ के अखबारों में
निपुण बहुत है कायर माओ
थोथे गाल बजाने मे

(चंगेजी बेटा)

'रक्त दो, रक्त दो, रक्त दो' और 'धांय, धांय, धांय' रचनायें कवि जयशंकर प्रसाद के 'प्रयाण गीत'—हिमाद्रि तुंग शृंग से, प्रबुद्ध शुद्ध भारती' के अनुरूप बनाने की कोशिश की गयी है लेकिन प्रसाद जी और सेठिया जी के काव्य संस्कारों में जो अन्तर है वह उनकी इन रचनाओं का अन्तर भी है।

संकलन की आखिरी कविता 'परमवीर शैतानसिंह के प्रति' है जिसमे प्राचीन वीरों के शौर्य, साहस और बलिदानी आकांक्षाओं के प्रतीक शैतानसिंह को कवि ने याद किया है लेकिन यह कविता इतनी अधिक वर्णनात्मक है कि युद्ध की करुणा, मानवीय नैतिकता के सवाल और सत्ताकर्मियों के चालाकी भरे खेलों की ओर ध्यान आकर्षित होने के स्थान पर युद्ध में प्राण देने को ही एक मूल्यवान स्थिति बना देती है।

यहां इस तथ्य को रेखांकित करना चाहता हूं कि कन्हैयालाल सेठिया की कविताएं समय के स्थूल सरोकारों की नहीं है और इसलिए उनमें उनकी

सर्जनात्मक ऊर्जा की पहचान नहीं होती। बाहर की दुनिया के लिए कविता करते समय वे शब्द से मामूली हल्की-सी पहचान करते हैं और वर्णनात्मकता के जरिये कुछ दूर जाकर रुक जाते हैं। यहां कविता का कौशल या हुनर है जो सेठिया के कवि रूप की हल्की-सी पहचान कराता है। उनका देदीप्यमान कवि-रूप वहां प्रगट होता है जहां वे दुनिया के बाह्यरूप का आभ्यान्तरीकरण करते हैं। दरअसल प्रत्येक कवि स्थूल दुनिया को मन की दुनिया से मिलाता है और एक रिश्ता कायम करता है। इसी रिश्तेदारी और आत्मीयता से कविता की दुनिया शुरू होती है।

कविता की जांच करते समय यह आवश्यक है कि कवि के मन का और स्थूल दुनिया का रिश्ता तलाश किया जाये। स्थूल दुनिया किसी के लिए भी मामूली उपादान नहीं है, कवि के लिए तो वह वास्तव में एक गैर मामूली, असाधारण उपादान है। स्थूल दुनिया के सहस्रों आपसी सम्बन्धों से कवि का मन अपना संबंध बनाता है और अभिव्यक्त करता है। संबंधों के बीच से संबन्ध बनाता हुआ वह एक जगह, एक ऊंची-सी जगह बैठकर, फिर इस आत्मीय दुनिया के लिए कविता लिखता है। ऐसा भी होता है कि अनेक कवि अपने प्रश्न दुनिया को सम्बोधित करते हैं और ऐसा भी हो सकता है कि अनेक कवि दुनिया के प्रश्न खुद को सम्बोधित करें।

सेठिया जी का इस स्थूल दुनिया से बहुत आत्मीय रिश्ता नहीं है, एक नैतिक रिश्ता है, तत्व-तलाश का। इस नैतिक रिश्तेदारी के कारण सेठिया की कविता में सवाल ही सवाल हैं। जहां वे दुनिया के बाहरी रूप को देखते हैं वहां वे उसे चौखटे की तरह काम में लेते हैं और अपने विचारों की तस्वीर जड़ देते हैं, जैसे इस कविता में—

ये शानदार शोरूम वाले
प्रतिष्ठान
बेचते हैं केवल वर्तमान
दुर्लभ हैं इनकी लिस्ट में
तुम्हारे इष्ट के दर्शन
तुम टूटे पहिये वाले
दृश्य रथ के स्वामी
इनके स्टाक में है अनुसंधानों
इन्द्रलोकी यानों के पार्ट्स
खोजो किसी कबाड़खाने में
भूतकाल के विपुल पार्ट्स
या फिर किसी अजायबघर में

क्रमिक विकास के संदर्भ स्वरूप
सुरक्षित है
तुम्हारा इच्छित (खुली खिड़कियां चौड़े रास्ते)

कई रचनाओं में बाहरी दुनिया के साथ वे इतने बेगाने होते हैं कि उसे केवल अलंकरण के लिए काम में लेते हैं जैसे इस रचना में—

टाइपिस्ट-चांद
दिवस-कागज के नीचे
रात का कार्बन पेपर पर
समय-टाइपिस्ट के की बोर्ड पर
अंकित नखत-अक्षरों पर
किरण अंगुलियां चला
सूरज के लिए आमन्त्रण पत्र, टाइप कर चुका है
क्लर्क आकाश ने उसे
ऊषा के गुलाबी लिफाफे में बन्द कर
दिशा चपरासिन को दे दिया है (वही : 38)

बाहरी दुनिया के साथ कोई आत्मीय रिश्ता न होने के कारण ही सेठिया शहर के सम्बन्ध में लिखते हुए बहुत नाराज नजर आते हैं—

शहर के मुखौटे वाले
इस नरक के चारों ओर
चक्कर काटती है
एक भारी भीड़
जो छटपटाती है
मकडी के द्वारहीन रेशमी तम्बू में
फंसी हुई असहाय मक्खी की तरह
पर छूटने नही देता है जिसे
भूख को रहन रखा हुआ पेट
व्यसन को उधार दिये गये पांव (वही : 58)

'खुली खिडकियां चौड़े रास्ते' की कविताएं दुनिया के साथ अपने नैतिक रिश्ते को सघन करने के सिलसिले मे हैं। यहां बहुत-सी कविताएं, प्रयोग शब्द चमत्कार, अलंकरण, आधुनिक दुनिया की नयी वस्तुओ को समेट कर रूपक-स्थापनायें एक नये कवि के आने की प्रमाणिक आहट है, लेकिन इन सबके बीच सवाल और बेचैनी राजस्थान के कई कवियो से सेठिया को एकदम अलग करती है और सिर्फ

उन्ही की है और यही उनका विश्वस्त स्वर है—

कैसे रोपूं ? मन के उखड़े बिरवे को
जिससे यह लगे
खिले, फूले, फले
कब से हाथ में थामे
बैठा हूं कलम
बस चारों ओर
असर ही असर
जड़ें काटने वाले
चूहों के विवर
या दो चार
भटकते डांगर
सोचता हूं
लौट चलूं घर
वहीं रोपूं
गमले में मिट्टी भर
इस उखड़े मन को। (वही : 66)

यह कविता बाहरी दुनिया से खौफ खाये कवि की नहीं है बल्कि बाहर की यात्रा को अविश्वस्त, अप्रामाणिक मानने वाले कवि की आन्तरिक, अन्तर्मुखी यात्रा है। इन कविताओं में यह बात बिलकुल साफ है कि कवि का कथ्य चाहे विवादास्पद हो लेकिन भाषा बहुत तराशी हुई और अपने हुनर में परिपक्व हो गये कवि की है।

74 गीतों वाले कविता संग्रह 'प्रतिबिम्ब' में सेठियाजी ने तारीखें दी हैं जिससे यह अन्दाज लगाया जा सकता है कि सन् 1947 से लगाकर 1960 तक उनका मन कहां-कहां तक गया है। मुझे लगता है कि 'प्रतिबिम्ब' की अनेक कविताएं एक नैतिक द्वन्द्व को शांत करने की कोशिश में हैं। सारे नैतिक सवालों का उद्गम यह जानने की कोशिश ही है कि 'सत्ता' (Reality) का स्वरूप क्या है ? ब्रह्म-खोजी के लिए यह रास्ता तत्त्वान्वेषण से शुरू होता है, लेकिन कवि के लिए यह कोई तत्त्व-सिद्धि नहीं है, बल्कि सौंदर्य की नाना-रूपों का विहार है। यह कभी खत्म न होने वाली यात्रा ही एक नैतिक सिद्धि है; एक के बाद एक खुलती जाती है और भेदों में बंटी सृष्टि अभेद तक चली जाती है और फिर में सौंदर्य की विचित्र-विचित्र किरणें भेद की रचना करती है। ... समय तक यह सृष्टि और तत्त्व-सौंदर्य देखते रहे हैं, इसलिए ...

बहुत दूर भी हैं। जीवन-यात्रा की यह विवेचना कन्हैयालाल सेठिया ही कर सकते हैं—

बीज का अंतिम चरण प्रिय
बीज ही है, फल नहीं है।
आज का अंतिम चरण तो
आज ही है, कल नहीं है
तड़ित, सुरधनु, दृग, कुहा में
बूंद कब चिर बन ठहरती ?
आस, आंसू, मेह में नित
रिमझिमा कर वह उतरती
पंथ की अंतिम शरण तो
पंथ है, मंजिल नहीं है। (प्रतिबिम्ब)

पंथ और मंजिल के सवाल कन्हैयालाल सेठिया की कविता के महत्त्वपूर्ण सवाल हैं। मेरी दृष्टि मे ये किसी संत-महात्मा के सवाल नही हैं। ये सवाल उस आदमी के हैं जो एक कविता में कहता है—

उठ, कर शर संधान तिमिर का
व्यूह भेद करना है
कैसा यहां विराम शिखा को
झंझा में पलना है
अथ इति से उन्मुक्त गगन में
खग उड़ सतत रहा।
(प्रतिबिम्ब)

सेठिया की कविता लगभग मर ही गई होती यदि वे रूढ़ नैतिकता की दुनिया से अपना रिश्ता जोड़ लेते और उत्तर देने की त्वरा में मसीहाई करते, कम-से-कम 'प्रतिबिम्ब' की कविताओं मे तो उन्होने वैसा नहीं किया। वैसा नहीं किया इसलिए 1959 में आते-आते वे एक कविता ऐसी लिख सके—

तुम अपने विथकित चिन्तन को
समाधान करते हो ?
तुम अपनी कुण्ठा को भ्रमवश
महाज्ञान कहते हो।
अपनी हुई पराजय को तुम
सहलाते कह 'ईश्वर'

रुको, न फेंको ओ पैगम्बर
परिभाषा के पत्थर

'प्रतिबिम्ब' की रचनाओं का कथ्य और शिल्प बहुत दूर तक जाता है। रह-रहकर एक विदग्ध सवाल वे अपनी कविता में उठाते हैं—लगभग सारी कविताएं इसी सवाल के इर्द-गिर्द घूमती हैं : सत्य क्या है? नित्य क्या है? विश्व क्या है? व्यक्ति क्या है? स्वर्ग क्या है? नरक क्या है? पुण्य क्या है? पाप क्या है? मुक्ति क्या है? भक्ति क्या है? जन्म क्या है?

कुछ ऐसी कामनाएं भी हैं जिनकी सिद्धि वे किसी से चाहते हैं—किसी अदृश्य, रहस्यमय शक्ति से। वह शक्ति जैसे दाता है। मैं नहीं जानता वह कौन है जो सेठियाजी को आकाश देगा, विश्वास देगा, मधुमास देगा—

पंख दिए, आकाश न दोगे
तो जड़ता चेतनता क्या है?
फिर क्षमता-दुर्बलता क्या है?
केवल खेल, अगर रचना—को
प्राण दिए विश्वास न दोगे?

दुनिया से एक नैतिक और आस्थावान रिश्ता बनाने वाले कवि के लिए यह अलौकिक तीसरी पराक्रमी शक्ति शायद जरूरी हो।

कन्हैयालाल सेठिया की कविताएं पढ़कर यह कहना कठिन नहीं है कि उनके कवि-मन की बनावट में छायावादी कवियों और उनमें भी महादेवी की कविताओं का ज्यादा प्रभाव रहा हो। [illegible], [illegible], [illegible], ममतामय और रहस्यालोकित मर्म शब्दावली की उपस्थिति [illegible] छायावादी प्रभाव का कारण है। 'दीपकिरण' की एक सौ साठ कविताओं में छायावादी कथ्य और शिल्प का साक्ष्य ढूंढ़ना कठिन नहीं है। [illegible] हिन्दी कविता [illegible] में हिन्दी की बड़ी फैलने वाली कविता का हिस्सा रहा है और मैं यह स्वीकार करता हूं कि इस सफरनामे में हमारे [illegible] रहे हैं—यह दूसरी बात है कि कृपण इतिहास [illegible] याद [illegible] में [illegible] का अनुभव करते हैं। मैंने [illegible] कविताओं में [illegible] का प्रभाव देखा है और मुझे न [illegible] हुआ न [illegible] हूं कि 'दीपकिरण' की [illegible] कविताओं में महादेवी की कथ्य और शिल्प [illegible] धीरे उतर आई है। [illegible] का [illegible] कितना महादेवी का [illegible] है—

मैं [illegible] हूं [illegible] परिचय [illegible]

किन्तु फिर भी हूं संजोए
पुतलियों में मुग्ध विस्मय
भेद खुलकर क्षर न जाए
फूल-सा, मुझ दीन का भय-
मैं अगाए गान में तेरी मधुर मधुलय लिए हूं।
हास है दिन का उजाला
पूर्णिमा मुस्कान तेरी
रात है भुज पाश परिचित
चिर मिलन की चाह मेरी
मैं अभागे दान में तेरा मदिर परिणय लिए हूं।

छायावाद से सेठिया ने तुम 'तुम्हारा', 'उच्छवास' : 'बादल', 'बांसुरी' और "विरह विह्वलता' और हजारों शब्दों का संसार लिया है लेकिन यह कहकर मैं एक बड़े कवि का कद छोटा नहीं करना चाहता हूं क्योंकि मैं उन कई बड़े कवियों को जानता हूं जिन पर दूसरे बड़े कवियों का प्रभाव है लेकिन फिर भी जिनका प्रभामंडल कहीं छोटा नहीं हुआ है।

मुझे यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं है कि छायावादी कवियों से अमूर्त कथ्य शैली और शब्द-विधान लेकर भी सेठिया जी ने जगह-जगह नितांत अपना स्पर्श देकर 'दीपकिरण' को लासानी गीत संग्रह बना दिया है। 'दीपकिरण' कविता-संग्रह मे अपने अस्तित्व और कविता को तलाश करने वाले मन का एक साथ एक जबरदस्त संघर्ष है। 'दीपकिरण' के बाद का काव्य धीरे-धीरे सवालों के उत्तर देने मे तल्लीन हो गया है।

इसके पूर्व कि मैं उस कविता की तरफ जाऊं, 'दीपकिरण' की एक और विशेषता की बात करना आवश्यक समझता हूं।

हिन्दुस्तान की कविता मे इन दिनों कवि चाहे प्रकृति के अपार वैभव और आत्मीयता से विमुख हो रहे हों, लेकिन हमारे देश की कविता के साथ प्रकृति अपनी पूरी अनुरागात्मकता के साथ जुड़ी है; वह कविता को हृदयस्थ कराती है, हजारों जड़ों के साथ कविता को हमारे मन में फैलाती है। सेठियाजी ने अपने संपूर्ण रचना-संसार में प्रकृति को न जाने कितनी-कितनी तरह फैलने दिया है और हमारे आत्मीय आध्यात्मिक संसार का हिस्सा बना दिया है। प्रकृति के भरे-पूरे वैभव को आत्मस्थ करना, फिर उसे हजारों प्रसंग में हमारी जिज्ञासा, जिजीविषा, आह्लाद-आनंद, वैराग्य और प्रश्नों का हिस्सा बनाना और फिर हमारे चित्त मे एक अक्षयवट की तरह प्रतिस्थापित करना, सेठियाजी के कवि-कर्म का सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा है। इन रचनाओं मे कुछ ऋतु कविताएं आसपास के प्राकृतिक वैभव के अपार ताजगी और संपन्नता लेती हैं और एक स्मृति-संसार से जोड़

देती है—शरद की एक मोहक कविता द्रष्टव्य है—

ये चमेली के सुमन से
मदिर उजले शीत के दिन
ये खिले सहसा मुरझाते
ये मिले सहसा विलगते
ज्यों किसी अल्हड़ प्रणय के
सजल झीनें प्रीत के दिन
ये रजत के रूप वाले
ये कनक-सी धूप वाले
एक मीठे से सपन की
सुरभि भीने गीत के दिन
व्योम नीला, भूमि उज्ज्वल
प्रिय मिलन को प्राण विह्वल
ये किसी हर को हराने
पंचशर के जीत के दिन
ये चमेली के सुमन से
सुभग घोले शीत के दिन

चैती—बयार का एक और गीत···

हुआ शीत-गत, चली चैत की
मलयज मिली बयार
अपने माणिक-दशन दिखाकर
हंसने लगा अनार
मदिर मंजरित नीम, गरल को
आया मधु का ध्यान
सुरभि-विह्वलता सांसें भूली
रसना की पहचान
आज लहर की श्लथ वेणी में
रक्त-जवा के फूल
अहरह मन्द झकोरों से ले
मुग्ध गूंथता कूल

'दीपकिरण' की कुछ दूसरी विशेषताओं पर विचार करने के लिए रसज्ञ समर्थ हैं, इसलिए यह प्रसंग यहीं समाप्त करता हूं।

कोई भी कवि सारी उम्र एक बड़ी कविता बनाता है और उसी के बीच

कुछ और कविताएं बनाता है—हजारों कविताएं बनाता है। उस बड़ी कविता का मूल भाव उसे बांधे रहता है : जड़ से जोड़ता है। हो सकता है कि एक लम्बे अर्से तक वह मूल केन्द्र भाव से विच्युत हो जाए या कि उसके चारों तरफ घूमता रहे और केन्द्र पर दृष्टि जमाए रहे। कई बातें हो सकती हैं।

सेठियाजी के सम्बन्ध में यह तथ्य रेखांकित करना आवश्यक है कि वे विपथगामी नहीं होते। दुनिया की विसंगतियों के बीच से वे एक संगति की कविता ढूंढते रहते हैं, सारी लयहीनता को वे एक लय से जोड़ते हैं, अगति के बीच गति को, गति के बीच अगति को, क्षण के बीच अनंत को और अनंत के बीच क्षण को और ऐसे अनेक अन्तर्विरोधों को एक समताल पर लाने की कोशिश करते हैं। प्रत्येक कविता में यही दृष्टि काम करती है। हजारों कविताओं के एक दर्पण में हजारों प्रतिबिम्ब देखते हैं। 'प्रणाम' कविता-संग्रह में 14वीं रचना की शीर्ष पंक्ति जैसे कन्हैयालाल सेठिया का पूरा भाव-संसार है। लिखा है—

यह दर्पण का महल कि इसमें
सब प्रतिबिम्ब तुम्हारे हैं···
खण्ड-खण्ड इन रूपों ने मिल
एक रूप परिपूर्ण किया
भिन्न-भिन्न इन रंगों ने मिल
एक रंग अवतीर्ण किया
लघुविराट के इस अन्वय ने
कितने प्रश्न उभारे हैं?

इन्हीं प्रश्नों के उत्तर में 'दीपकिरण' का कवि एक कदम आगे बढ़ता है, यहीं से एक दूसरा कन्हैयालाल सेठिया शुरू होता है—पिछली प्रश्नाकुलता बरकरार रखते हुए भी उत्तर के अनुसंधान में अधिक तेजी से चलता है।

यह कहना बहुत कठिन है कि किसी कवि को अपनी गहरी प्रश्नाकुलता शान्त करने के लिए किसी दार्शनिक व्यवस्था का हिस्सा हो जाना चाहिए या कि अपने मन को प्रश्नों के तुरंग पर यायावरी करने देना चाहिए। सेठियाजी ने यद्यपि 'प्रणाम' के छब्बीसवें गीत में लिखा है—

यह मेरा सौभाग्य है कि अब तक
मैं जीवन में लक्ष्यहीन हूं
करती नहीं हृदय का मेरे
कोई एक कामना शोषण
मदिर वासना की मधु परियों

सतत नाचती सन्मुख प्रतिक्षण
मुक्त दृष्टि निरुपाधि निरंजन
मैं विमुग्ध भी उदासीन हूं

लेकिन यह कविता न तो विमुग्धावस्था या उदासीनता के साथ रहने की तैयारी में है और न प्रश्नों के सुरंग पर अनंत यायावरी की स्थिति में बल्कि यह एक थकी कविता है; अनिश्चय की स्थिति से ऊबी हुई इसलिए चौंतीसवें गीत के सहजे में एक बदलाव इस तरह हुआ है—

यह पतझर की शाम, अकेला
फूल उदास बहुत है
शूलों की महफिल में अलि का
कटु उपहास बहुत है
रो मत मृदुल समीर, दुआरा
कोई और खुलेगा।

पुनः छत्तीसवें गीत में लिखा है—

पनघट तक आकर भी गागर
रीती लौट रही है
इस गगरी ने कुंभकार के
श्रम को व्यर्थ गंवाया
रूप रंग आकार देखकर
गाहक गया ठगाया
पुनः चाक चढ़ चौरासी के
केवल राह यही है

'चौरासी कोटि जोनियों' का चक्र-पुनरपि जननं, पुनरपि मरणम, पुनरपि जननी जठरं शयनम।'

वय के उतरार्द्ध का 'प्रणाम' कविता-संकलन पहले की प्रश्नाकुलता वाली कविता से प्रणाम करता है। इसलिए जो वासना और भावना से अलग जीवन का दूसरा अर्थ समझने के लिए तैयार नहीं था, यथा:—

आज की जो वासना प्रिय।
कल वही है सृष्टि,
आज की जो भावना प्रिय
कल वही है दृष्टि

वासना का क्रम चले बस
है यही आधार
भावना का भ्रम चले बस
है यही आकार
और जीवन क्या ? जगत क्या ?
पूछना ही व्यर्थ
वासनामय, भावनामय
से परे क्या अर्थ ? ('सप्त किरण' से)

वे 'प्रणाम' के उन्तीसवें गीत में लिखते हैं—

तू अपनी उपलब्धि आप है
अनगिन विश्व तुम्हारे भीतर
साथ समन्वित ईश्वर-नश्वर
विग्रह संधि विराम निरन्तर
व्यक्त-गुप्त सीमित अमाप है।
द्वंद्वातीत द्वन्द्व मय तत्पर
छन्दबद्ध—निर्बन्ध महेश्वर
चिन्मय-मृण्मय संशय निश्चय
सृजन-विसर्जन पुण्य पाप है
गीत अगीत नवीन पुरातन
सहज कठिन प्रारम्भ-समापन
एक-अनेक अरूप-रूपमय
विघ्न-सिद्धि वरदान-शाप है।

यह विरोधी शब्दों का पुंज एक उत्तर देने की प्रक्रिया में है। 'प्रणाम' के दसवें गीत में सेठियाजी भारतीय अध्यात्म की 'अनहदनादी' और 'मौनी बाबाओं' की परम्परा में पहुंचने की कोशिश करते हैं—

शून्य सुना करते हैं मेरे
प्राण यज्ञ की पूत ऋचाएं।
गिनती में बंध जाने वाले
श्रोता मेरे साध्य नहीं हैं
सुनकर करे प्रशंसा निन्दा
ये मेरे आराध्य नहीं है
महामौन तक पहुंचाने की
माध्यम मेरी गीत शिखाएं

इसी गीत में 'अनहद नाद उठा करता है' और 'केवल 'स्व' का बोध भिखारी को सम्राट बना देता है' जैसी पंक्तियां हैं।

इसलिए 'प्रणाम' को सेठियाजी के पुराने और नये काव्य की विभाजन रेखा मानना चाहिए। इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि कविताओं के बीच से कोई नयी अतर्क-संगत, अनाहूत या अप्रत्याशित कविता-शृंखला की शुरूआत होती है—सिर्फ इतना ही कि अब तक प्रश्न दुनिया की यायावरी करने वाला कवि अब उत्तर हासिल करने, उत्तर बताने वालों की दुनिया में प्रवेश करता है—लेकिन कविता की दुनिया में यह बात इतनी-सी नहीं है। उत्तर बताने वाला कवि संक्षिप्त हो जाता है—ठीक जैसे गणित का आदमी बड़े सवाल का उत्तर संक्षिप्त में दे देता है। केवल कविता का आकार ही छोटा नहीं हुआ है; उनके शिल्प में भी बहुत परिवर्तन हुआ है—गीत की लय बदल गयी है। तुक वाली कविता तुक-रहित हो गयी है, कविता-संग्रहों के नामों में भावनात्मक अमूर्त संज्ञायें प्रयुक्त हुई—अनाम, निर्ग्रन्थ, मर्म। प्रणाम, मर्म, अनाम तथा निर्ग्रन्थ क्रमशः सम्वत् 2027, 2028, 2031, 2032 में प्रकाशित हुए।

निर्ग्रन्थ के फ्लैप पर सेठियाजी के संग्रहों—'मर्म' और 'अनाम' पर विशेषतया प्रसिद्ध कवियों की सम्मतियां छपी हैं। 'अनाम' की कविताओं को बच्चनजी, वीरेन्द्रकुमार जैन और भवानीप्रसाद मिश्र ने इसलिए सराहा है कि वे 'मंत्र' ही हैं। वीरेन्द्रकुमार ने लिखा—"श्री अरविन्द ने कहा था, आगामी कविता सूक्ष्म यान्त्रिक प्रभाव वाली होगी। आपकी इन कविताओं में वह भविष्यवाणी सच होती लगी। आप मे भाव और चिन्तन की अद्भुत संयुति है।"

मंत्रशक्ति पर मुझे इतनी ही टिप्पणी करनी है कि सेठिया यदि ऋषिकोटि की कविता कर रहे हों तो वह हमारी क्षति है क्योंकि कविता प्रायः इस मोक्ष के विरोध मे होती है जिसे मंत्र सिद्ध करते हैं। मंत्रों ने अब तक जो कवितायें बनायी हैं वे अमूर्त रहस्य को प्रतिष्ठापित करती हैं। सृष्टि के खुले आनद और रूप, रस, गंध, स्वाद, स्पर्श को तिरस्कृत करने का काम भी मंत्र सिद्ध कविता ने किया है। इसलिए यदि सेठिया मंत्र कविता से किसी बड़ी कविता को आविर्भूत करना चाहते हों तो वह एक दुर्घटना होगी। कविता का सत्य यथार्थ को सिकोड़ने मे या अमूर्त करने मे नहीं है उसे विस्तार देने में है।

लेकिन चाहे सेठिया चाहते रहे हों न चाहते रहे हों, जो चिन्तन का रिश्ता उन्होंने दुनिया के साथ स्थापित किया था और जिस यथार्थ का वे अध्यात्मीकरण-आभ्यान्तरीकरण कर रहे थे उसे मंत्र-कविता तक आना ही था। मंत्र कविता तक आते-आते सेठियाजी सिद्ध-पुरुषों की तरह कविता के तावीज बांटने लगे। 'दीपकरण' की रचनाओं का प्रवाह, प्रश्नाकुलता, प्रकृति के अनेक आयामी रचावों के बीच एकता और अन्तर्विरोधी पक्षों के बीच अद्वैत देखने वाली कविता

दुर्घटनाग्रस्त हो गयी। सेठियाजी अब द्रष्टा नही रहे; वे दिखाने वाले हो गए। "मैंने देख लिया है, मैंने जान लिया है" इस भाव मे कोई विनम्रता नही होती। कवि देने वाला हो गया—दाता। 'मर्म' की कविता बहुत छोटी बहुत ही छोटी है और परिभाषात्मक है। इस संकलन में जहां कविता दुर्घटनाग्रस्त नही हुई वह 'दीपकिरण' या कि 'प्रतिबिम्ब' के प्रतिमानों पर लिखी गई हैं। पचहत्तरवीं कविता मे देखें—

हर सुमन का सुरभि से यह
अनलिखा अनुबंध
अनिल को सौंपे बिना यदि
मैं झरूं, सौगन्ध।

या
सत्य वही संगत
जो सर्व सम्मत

या कि
अम्बर, अनिल
सलिल, हुताशन
भू करती
सब का मूल्यांकन

लेकिन जहां कविता तत्त्व-चिन्तन की दृष्टि से है : वहां केवल कर्ता के अन्दर सिमट गई है या पाठक के पास आते-आते संत-सम्मत वचन रह गई है। ऐसी कुछ कवितायें द्रष्टव्य हैं—

(1) कहा, सब
अनकहा
शेष अब
स्वगत रहा।

(2) मत का सृजक
जड़ मन
सत का जनक
आत्मन।

(3) नीरव की चर्चा
रव से
जीवन की चर्चा
शव से।

(4) अपना
अपने में बो
अन्तः जग
बाहर सो।

(5) स्व से अतीत
वह भयभीत

(6) नभ
भू,
मैं
तू

(7) पदार्थ
चेतना की सीढी
यथार्थ

(8) गत
आगत
अनागत

(9) अलख को लख
भुलाभत अपने को
सत्य को शोध

कल्पना की पीढी सब सुला मत सपने को
कोई
अभ्यागत

'मर्म' के प्रारम्भ में सेठियाजी ने लिखा है—

मर्म
मर्मज्ञों के
लिए
है
अल्पज्ञों
और
सर्वज्ञो के
लिए
नही

दो शब्द के लेखक हैं गुलाब खंडेलवाल, रतनशाह, नथमल केडिया। दो शब्द सेठियाजी को कवि की तरह नही, 'महात्मन' की तरह परिचित कराते हैं—कवि चिन्तन और दर्शन के धरातल पर पूरी तौर पर प्रतिस्थापित हो चुका है। विज्ञ पाठक और सुधीजन इसमें अवगाहन कर लाभान्वित होंगे।

'अनाम' 2021 मे छपा काव्य संग्रह है। 'मर्म' की कविता, शैली चलती रही है—जीवनानुभवों को सिद्ध-वचन बनाकर कहने की कविता-शैली। यह शैली बुरी नही है लेकिन यह कविता की शैली नहीं है। आध्यात्मिक अनुभवों को किसी विश्वास के साथ कहने की शैली अवश्य है। मेरा ख्याल है कि कविता का अपना मिजाज है और किसी भी कवि को अपने माध्यम का मिजाज बदलने की स्वाधीनता नही होनी चाहिए।

कविता की स्वायत्तता यह है कि वह प्रत्येक जीवनानुभव को लचीला और व्यापक बनाने की कोशिश करती है, वह स्थूल यथार्थ को सौन्दर्य देती है और कला-रूप को प्रस्थापित करती है। वह एक क्रूर तर्क-शैली की जगह एक समानान्तर आत्मीय तर्क-शैली आविष्कृत करती है जो प्रायः अमूर्त होती हुई भी हद दर्जे तक विश्वसनीयता और प्रामाणिकता हासिल करती है। 'अनाम' में सेठिया जी इस लचीलेपन को एक क्रूर तर्क-शैली से काटकर कविता के बुनियादी मिजाज को बदल देते हैं—यहां कविता में जीवनानुभव की व्यापक साझेदारी नही रहती। वह व्यक्ति के मिजाज का हिस्सा बनती है और यही कमजोर होती है।

'अनाम' के मिजाज को सेठियाजी ने इस प्रकार व्यक्त किया है—
अनाम नाम की प्रतिक्रिया है

जब तक सम्बोधन में रति है
मन मति क्या होगा ? शब्द का व्यूह
अशब्द से ही टूटेगा यह मैं जानता हूं।
अतः बोध से अबोध बन पाऊं तो सहज ही
मेरा विराम अविराम से मिल लेगा ।

इस पुस्तक की संयोजिका तारा वैद ने प्रकाशकीय वक्तव्य में सेठियाजी की यह प्रतिनिधि कविता उद्धृत की है—

नाम रूप की भीड़ जगत में
भीतर एक निरंजन
सुरति चाहिए अन्तर दृग को
बाहर दृश्य को अजन
देखे को अनदेखा कर दे
अनदेखा का देखा
क्षर लिख-लिख तू रहा निरक्षर
अक्षर सदा अलेखा।

'प्रणाम' से लेकर 'निर्ग्रन्थ' की रचनायें, विदित हो कि, 'उत्तर' देने की परम्परा में है। जो प्रश्नाकुलता पूर्व रचनाओं में है,—एक नैतिक सम्बोध के नजदीक-नजदीक—वह 'उत्तर' कविताओं में बदल गई है। 'अनाम' की उन्नीसवी रचनाओं मे 'प्रश्न परम्परा' को 'दिग्भ्रम की परम्परा' कहते हुए लिखा है—

खड़े हैं
दिग्भ्रमित से
कब से
कुछ प्रश्न
दुखते हैं
बेचारो के पांव
याद है इन्हें
पूरब पश्चिम दक्षिण
भूल गए
'उत्तर' का गांव

कुछ दार्शनिक मिजाज की रचनायें 'अनाम' से उद्धृत हैं—

(1) मधु
मिट्टी के भांड़ में है

(2) खो जाता है
जहां पहुंच कर

अथवा स्वर्ण पात्र में
दृष्टि का यह द्वैत
नही छल पायेगा
रसना के ब्रह्म को।

पेड़
वह वन

(3) नही होगा गणित के
बड़े से बड़े
प्रश्न का
अगणित में उत्तर
इसलिए है बाहर
अंकों के व्यूह से ईश्वर

(4) द्वार के लिए
न भीतर है
न बाहर
द्वैत
दर्शन में है

(5) अक्षर से
क्षर तक की यात्रा
यत्र
अक्षर से
शब्द तक की यात्रा
तत्र
अक्षर से
अक्षर तक की यात्रा
मंत्र

(6) बलि वासनाओं की दो
नारियल
कुण्ठा का तोड़ा
चन्दन
अहम का घिसो
बन जायेगा
तुम्हारा पशु ही प्रभु

'निर्ग्रन्थ' की रचनायें 2032 में प्रकाशित हुईं। अब तक छपे कविता-संग्रहों में यह सेठियाजी का आखिरी संग्रह है। प्रथम सोलह कवितायें भगवान महावीर के पुण्य-चरित्र की विविध घटनाओ से सम्बन्धित हैं। 16वी कविता में यह प्रार्थना अंकित है।

करो ग्रंथि से मुक्त मुझे है
वीत राग भगवन्त
बन न सका नवनीत, मथ रहा
कब से जाने तक्र
कर समग्र अब छूटे मेरा
जनम-मरण का चक्र
मुझे सताते हैं भव-भव के
वांधे कर्म अनंत

कहना नही है कि यह 'प्रार्थना' कविता का अंत है। यह आत्म-निवेदन,

संशयाकुल संसार के मैदान में डटे प्रसन्न कवि का नहीं, भव-बंधन से मुक्त होने की छटपटाहट है। किन्तु इस कविता के बाद भी 'निर्ग्रन्थ' में. गणितीय संक्षिप्तता लिए 66 रचनायें हैं।

इन कविताओं का प्रधान स्वर 'आत्म-बोध' का है। आत्म-बोध की कविता लिखने की संत-परम्परा हिन्दी के लिए नयी नहीं है। भव-पंक में निमग्न भक्तों ने आर्तवाणी में प्रभु को बार-बार पुकारा है। संसार की और अपनी प्रकृति को समझा है। भव-मुक्ति की कामना की है। लेकिन सेठिया जी पुराने कवियों से बहुत भिन्न हैं। आत्म-बोध के सिलसिले में वे चिन्तक हैं; आत्म-विश्लेषण के साथ भव-विश्लेषण भी करते रहते हैं। वे अध्यात्म की शब्द-शृंखला को निरन्तर काम में लेते हैं किन्तु 'आत्म-विभोर' नहीं होते। तैरने का सम्पूर्ण ज्ञान लेकर वे डूबने जाते हैं। यही कारण है कि वे आध्यात्मिक सम्बोध की न होकर तत्त्व-चिन्तन की दिशा में अधिक सक्रिय होती हैं। बार-बार वे इन स्थितियों में अपनी तरफ देखते हैं; अपने को सम्बोधित करते हैं लेकिन वस्तु-जगत् के क्रिया-कलापों पर, कार्य-कारण भाव पर टिप्पणी भी करते चलते हैं। 'निर्ग्रन्थ' मे वे ग्रंथि-हीन हो सकते तो बड़ी कविता होती लेकिन अन्त तक वे कार्य-कारण भाव जोड़ते रहते हैं, फिर तात्त्विक प्रश्न करने लगते हैं : उसके उत्तर देने लगते हैं। उत्तर देते समय 'सिद्ध' और प्रश्न करते समय विनीत होते है।

ज्ञाता या सिद्ध की कविता है—

1. धागे मे
मणियां हैं कि
मणियों में धागा
ज्ञाता वह
जो शब्द में सोया
अक्षर में जागा

2. मात्र देह है
समिधाएं
वायु है
प्राण अग्नियों का
रख लेगी
क्षरित विभूति
मां वसुधा
ले लेगा
अक्षरित कनकाभा
पिता शून्य

निर्ग्रन्थ होने की प्रक्रिया में भी वे समाजवाद और मार्क्स पर कठोर टिप्पणी करना नहीं भूलते। समाजवाद के लिए लिखी यह कविता द्रष्टव्य है—

टूट गया है
भीड़ से जुड़ने की

प्रक्रिया में
आदमी
चिपका दिया गया है
समाजवादी गोंद से
हथेलियों की जगह
मस्तिष्क
पगथलियों में
हृदय
पहुंच पाता है अब
पेट और शिश्न
तक ही
रक्त और दौर

समाजवाद को लतियाने के सिलसिले में ही सेठियाजी को 'शिश्न' की याद आती है। मार्क्स के लिए एक पूरी कविता इस प्रकार है—

सामने था
जो कुछ
उस पर थी
मार्क्स की दीठ
रह गई अदीठ पीठ
जो थी पेट के पीछे
नही हुआ अनुभूत
साम्य का योग
हाथ लगा
अभिव्यक्ति का सत्य
साम्य भोग

इन रचनाओं मे कथ्य की रमणीयता जिस अनुपात में कम होती गई है कविता उतने ही अनुपात मे 'दुर्घटनाग्रस्त' हुई है। कविता को दुर्घटनाग्रस्त करने मे सिर्फ पार्टी प्रतिबद्धतायें ही जिम्मेदार नहीं होती, धार्मिक, नैतिक, आध्यात्मिक प्रतिबद्धताओ की जिम्मेदारी भी उतनी ही होती है। एक महान् कवि का यहां अकविजनोचित अन्त हो सकता है—गनीमत है कि इन तत्त्व-चिन्तन की कविताओं में बहुत-सी 'स्यादवादी' कवितायें शिल्पकौशल की वजह से जीवित हैं।

सेठिया की कविता का सफरनामा लगभग पचास वर्षों में फैला है। अपनी

शब्द-शिक्षा को उन्होंने अपने स्वभाव के इतने अनुकूल बना लिया है कि वे कुछ रचनाओं को विशेषतया उत्तर वय की रचनाओं को छोड़कर तत्त्व निरूपण के कठिन काम को सिद्ध करती हैं। वे सृष्टि और शब्द को एक रिश्ते से—आत्मा के रिश्ते से—बांधने वाले कवि हैं।

सेठिया की कविता के दबाव हमारी कविता से बहुत भिन्न हैं। हमारी कविता जन-सम्पर्क की जनवादी कविता है। सेठिया—आत्म-सम्पर्क की आत्म-वादी कविता करते हैं। अनेकान्त में रमा हुआ उनका मन कविता के लिए बहुत बड़े आकाश की तलाश से कविता प्रारम्भ करता है। यह बात दूसरी है कि बाद में वह आकाश सिकुड़ जाता है।

हमारी आज की कविता से भिन्न कविता करते हुए भी वे भारतीय कविता की तात्विक प्रश्नाकुलता और उसके समाधान की महत्त्वपूर्ण आकांक्षा बनाये रखते हैं।

# हरीश भादानी का कवि-कर्म

न रगड़ो तुम भी
चकमक पत्थर मुझ पर
नही दो अपने हाथों
किसी ईंधन की।
हवि मुझे
विस्फूटने को ही है
मेरे भीतर से एक ज्वालामुखी
अगियाया हुआ
फिरूंगा राजमार्गों पर मैं
फेंकूगा पलीते
उनकी ऊंचाइयों तक
बह-बह जाएगा मेरा लावा
इनकी बावियों
इनकी बुनियाद की
आखिरी तह तक

हरीश की ये पंक्तियां 'नष्टो मोह…' से हैं। नष्टो मोह…उनकी लम्बी काव्य कृति है। आत्मालाप की उन सारी स्थितियों से गुजरती हुई कृति, जो अब तक गीत लिखने वाले कवि को एक तल्ख जीवनानुभव के सामने खड़ा करती है—गो कि अन्त उसका एक रोमांचकारी शब्दावली में होता है जो अमूमन उन कवियों की होती है—जिन्हें दुनिया को शोकरहित करने की हमेशा याद रहती है। 'नष्टो मोह' जहा समाप्त होती है वहां अंकित है—

रोशनी। शब्द। सम्बोधन।

लेकिन फिलहाल इस काव्य-कृति के संबंध में इतना लिखना ही काफी है—बाद मे विस्तार से।

हरीश से मेरी पुरानी पहचान है। राजस्थान में जिन कवियों की सुकुमार देह और मोहक हंसी मैं कभी नही भूल सकता उनमे से एक हरीश भादानी हैं। हरीश भादानी उनमे से भी एक हैं जो साहित्यिक पत्रकारिता और जिन्दगी को अपने तेवर के साथ जीने के लिए तलवार की धार पर चले हैं। जिन बुद्धिजीवियों और रचनाकर्मियों को कर्म की सार्थकता और उसकी नैतिक जिम्मेदारियों का एहसास है वे हरीश भादानी की काव्य-यात्रा का अर्थ समझेंगे, जो एक असंगत, विकट और त्रासद जिन्दगी से अपना रस लेकर ऊर्जावान बनी हुई है। हरीश इस अर्थ में महत्त्वपूर्ण और बड़े कवि हैं कि उन्होंने मनुष्य और कविता को अलग-अलग नही होने दिया। जो शौकिया कवि नहीं हैं वे हरीश भादानी के इस गुण की तारीफ करेंगे।

हरीश का पहला काव्य-संकलन 'अधूरे गीत' है जिसमें उन्होंने अपने काव्य सरोकार पर रोशनी डाली है। लिखा है—कविता के सम्बन्ध में मेरी स्पष्ट धारणा यही है कि कविता, युग की, फोडे की तरह उभरी व्यवस्थाओं को समान बनाते हुए और जीवन की कुरूपताओं को अनूठा सौन्दर्य प्रदान करते हुए वर्गहीन समाजवादी समाज की स्थापना की कल्पना को बल दे, कविता की आत्मा संहार की कुत्सित भावना को पीछे धकेल कर मानवी सौहार्द्र, विश्व-शान्ति और सृजन का मूर्त संदेश दे, वही कविता युग की अपनी कविता है।

हरीश के काव्य सरोकार और घोषणाएं पेचीदा या कि उलझनभरी नही हैं। कविता के द्वारा वे जिस दुनिया को बनाना चाहते हैं वह मानवीय दुनिया है और उसके गीत गाना, उसे बनाने के संकल्प दुहराना, उसके प्रति निरंतर प्रतिबद्ध रहना उनका कवि-कर्म है।

हरीश लम्बे समय तक समाजवादी पार्टी और समाजवादी आन्दोलन के साथ रहे हैं। यह शायद 1948-49 की बात रही होगी जब बीकानेर की जन-सभा मे हम दोनों ने एक मंच से समाजवादी संकल्प दुहराया। तारुण्य के वे दिन कुछ और थे, बीकानेर में बौद्धिकों का जमघट, बहस, बातें, क्रान्ति-सोच, मोहक जिल्दोंवाली नयी-ताजा पुस्तकें, लेखन हमारे सपनों के बहुत नजदीक था। बगरहट्टा, सत्यनारायण पारीक, मुरलीधर व्यास, हरीश की याद किसी रस्मी तरीके से नही बल्कि एक अटूट रिश्ते की तरह जीवन का हिस्सा बन गयी। बाद में भी बीकानेर क्रान्ति-सोच की हिस्सेदारी में पीछे नही रहा, हरीश ने लम्बे समय तक 'वातायन' निकाला जिसका कर्ज चुकाने के लिए हवेली का हिस्सा बेचना पड़ा—

कर्ज की पीते थे मय, और समझते थे कि हा,
रंग लायेगी हमारी फाकामस्ती एक दिन

इस तरह शुरुआत हुई। हरीश के प्रथम काव्य-संकलन प्रकाशन की जिसमें

अधिकांश कविताएं छंद बंधी हैं, प्रेम और क्रान्ति के लिए कुछ कविताएं अतुकांत हैं, अंत की कविताएं राजस्थानी भाषा में लिखी हुई हैं।

प्रेम और तब्दीली की इच्छा से बनी हुई इन कविताओं में सरल किन्तु प्रश्नाकुल, उद्वेग युक्त, असंतोषपूर्ण मन:स्थितियां हैं। जवान होते हुए हरीश ने उस समय जो कविताएं लिखी उनकी आज यही प्रासंगिकता है कि वे तब से लेकर प्रेम, समता और अवाम के लिए खड़ी हैं।

जिस समय हरीश ने कविता लिखना शुरू किया तब गीत, राजस्थान की ही नहीं—हिन्दी के कवियों की प्रिय विधा थी, नाराजी, प्रेम, व्यंग्य, रसलीन काव्य-उक्तियां, सत्ता-प्रतिष्ठानों के विरुद्ध जिहाद, इन्कलाब की बुलन्दियों को छूने नारे प्रायः गीत या छन्दबद्ध कविता में लिखे जाते। हरीश ने गीत लिखने में सिद्धि पा ली थी। गीत उनके अनुकूल था। हो सकता है कि गीत उनके सुरुचि-सम्पन्न जीवन और कमनीय मिजाज के बहुत नजदीक आ गया हो। चार काव्य-संकलन के बाद 'नष्टो मोह···' में उन्होंने गीत और नयी कविता की गद्य-लय वाली भाषा का प्रयोग किया लेकिन वे कामयाब नहीं हुए और उन्होंने फिर अपने छठे और अब तक आखिरी काव्य-संकलन 'खुले अलाव पकाई घाटी' में गति का बहतरीन प्रयोग किया है।

गीत के सिलसिले में यह कोई हरीश की वकालत नहीं है। सवाल सिर्फ काव्य-भाषा को लेकर है क्योंकि भाषा एक कारगर औजार है। एक आयु पर पहुंचे और खास तौर पर सामाजिक तब्दीली के लिए कृतसकल्प कवि के लिए भाषा दरअसल एक अहम सवाल है। यह गौर करने जैसी बात है कि हरीश नव-गीतकारों के 'भाषा रोमाच' (Language Thrill) मे कोई दिलचस्पी नहीं लेते। उनका गीतछन्द प्राय: पुराना और लम्बी पंक्ति वाला होता है (छपने में वह चाहे टुकड़ों-टुकड़ों मे छपकर नयी कविता की तरह नजर आता हो) गो कि शब्द समूह दूसरा है, दूसरे जीवनानुभवों से आता लगता है, ज्यादा अर्थवान, कभी-कभी संत और मसीहाई विषाद मे उत्तप्त, कभी-कभी एकदम मसीहाई। मसीहाई विषाद अथवा दृष्टि कहकर हरीश पर यह आरोप लगाना नहीं है कि वे उपदेशक, साधु अथवा महात्मा हैं, कवि नहीं। मैं केवल उनके द्वारा प्रयुक्त शब्द-प्रकृति की बात कर रहा हूं जो उन सब कवियों मे समान होती है जिन्हें एक खास तौर का संसार बनाना होता है—विषमता रहित, दासता रहित, हर सम्भव पराधीनता रहित। मसीहाई विषाद के बिना उस विश्व रचना के लिए शब्द प्रेरित नहीं करते। इसलिए 'खुले अलाव पकाई घाटी' के गीत 'कदम-कदम बढाए जा' जैसे लहजे मे नहीं है, वे गुरिल्ला गीत भी नहीं हैं, बल्कि एक शताब्दी के आचार-विचार की दुखान्तिका से उपजे है, प्रकृति के रस विलास-विषाद से आए हैं। हरीश शब्दों को बहुत ठंडे मन से उठाते हैं। कोई तलवार या हथौड़ा,

कुल्हाड़ी या हंसिया, ईंट या पत्थर की तरह नहीं बल्कि हरे वृक्ष की टहनी की तरह जो कवि के देखते-देखते सूख गयी है। बहुत-सी मिसालें हैं लेकिन उन सबको उद्धृत करना बेमौजू होगा, सिर्फ एक कविता पढ़ने का आग्रह करता हूं—'तुम'

किससे भरूं
कैसे भरू
यात्रा में आई दरारें
कैसे टांक लू पैवंद
फट गई तितीर्षा पर
पिरो तो लू कभी
विरासत में बची नंगी सुई
सूत भर सम्बन्ध भी
समेट कर ले गए तुम
ओ तुम

(खुले अलाव पकाई घाटी)

पुनः लौटें—1961 मे कवि का दूसरा काव्य-संकलन प्रकाशित हुआ 'सपन की गली'। इस संकलन की महत्त्वपूर्ण बात यह कि इसकी भूमिका बच्चनजी ने लिखी है। भूमिका में हरीश के कृतित्व से सम्बन्धित अभिमत बहुत सावधानी से लिखा गया है जो कोई भी वयस्क और प्रतिष्ठित कवि किसी भी नये और तरुण कवि के लिए लिखेगा। उन्होने लिखा'''उनका (हरीश का) हृदय भावनापूर्ण है और नये-पुराने दोनों ही माध्यमों से वे अपने को अभिव्यक्त कर रहे हैं। घटनाओं और परिस्थितियों की प्रतिक्रिया तीव्रता के साथ उनके अन्तर में होती है और उतनी ही शीघ्रता के साथ उसे शब्दों मे बांधने का प्रयास भी वे करते हैं। किसी भी कवि की रचना में इन चीजों का पाया जाना शुभ लक्षण है और उसकी संभावनाओं का परिचायक भी।

संकलन में हरीश ने फिर काव्य-सरोकारों को दुहराया है। रचनाओं के सम्बन्ध में जिन दो बातों पर प्रकाश डाला है उनमे से एक तो यह है कि 'सपन की गली' मे भावनाओ को उन्होंने उनके अन्तर में पैठ कर समझने का प्रयास किया है इसलिए इस संग्रह मे "पीडा और अभावों के स्वर सयमित होकर उभरे हैं" दूसरी बात यह कि "मैं अनुभूतियो, संवेदनाओं के प्रति ईमानदार हूं।"

'सपन की गली' की शुरुआत एक चतुष्पदी से होती है —

कौन आया था पहले सपन की गली ?
कौन आगे चला, कौन पीछे चली ?

सिर्फ इतना सिया चल पड़ी लेखनी,
प्यार पीछे जगा, पीर पहले चली।

यह अकेली चतुष्पदी ही नहीं, रूमानियत लिए हुए कई कवितायें यानी चतुष्पदियां, गीत और अनुकान्त रचनायें हैं। अतुकान्त कविताओं की भाषा स्वच्छ हिन्दी है लेकिन गीत की रसीली लय और मुहावरा विद्यमान है। उदाहरण के लिए 'नारी प्राजल व्यजना' मे स्त्री की सारी विवशता केसरिया, कस्तूरी गंध, ऋचाओं, महुआ, पलासों, गुलाबों के जरिये कही गयी है—अत मे हृदय को मथने वाला सवाल मौजूद है—

···या किसी विद्युत घड़ी में रचित
इस सृष्टि का शृंगार ?
बोलो—कि
तुम हो क्रीत-दासी
या खिलौना
तुम किसी क्षणभर उफनती वासना का ?

हरीश अपने इस काव्य-संकलन मे उन शक्तियों को पहचानते से लगते है जो आज की त्रासदी के लिए जिम्मेदार है, 'मेरी कविता' मे उन्हे गिनाया गया है—

ये सब व्यापारी है, सूदखोर, संगदिल है
मेरी इस पीढी के आदमी
मेरी कविते ! ये तो मोहित भरी उमर पर
इनके कहे ठगी मत जाना

'सपन की गली' का मर्मान्तिक स्वर प्रेम-निषेध मे नही है बल्कि प्रेम के उन सारे सपनों के विच्छिन्न हो जाने मे है जिसका कारण यह क्रूर असमतावादी व्यवस्था है स्त्री भी जहां एक 'जिन्स' हो गई है। दरअसल प्रेम के सम्बन्ध में हमारी बहुत-सी दिक्कतों में मुख्य दिक्कत यह है कि उसे हम कोई मूर्त छवि या सामाजिकता नही देना चाहते इसलिए सहस्रों आधुनिक कविताओं मे उत्तर छायावादी प्रभाव और प्रगतिशील रूमानी औद्धत्य का सिलसिला हमारी नापसंद के बावजूद चलता रहता है। 'सपन की गली' मे कही-कहीं ही अमूर्त प्रेम की तरफदारी और धुन्ध घटती है—किन्तु प्राय: बनी रहती है तो यह तारुण्य की देहलीज पर आये हर कवि की दिक्कत रहती होगी।

1966 में हरीश के दो संकलन प्रकाशित होते हैं—'सुलगते पिण्ड' और 'एक उजली नजर की सुई' दोनों संकलनो में कुल मिलाकर एक सौ सत्तावन रचनाएं

है। दोनों मे अलग-अलग भूमिकाएं हैं। 'एक उजली नजर की सुई' में हरीश ने तीन पृष्ठों का वक्तव्य दिया है। यह वक्तव्य पहले वक्तव्यों की अपेक्षा अधिक परिपक्व और गभीर है। वह इस बात का सबूत है कि अब कवि अपने समय के प्रश्नों को अधिक चिन्ता के साथ ग्रहण कर रहे हैं। इसी वक्तव्य में हरीश आत्मालोचन करते हुए लिखते हैं—"ऐसी ही वैयक्तिक पृष्ठ-भूमि से जुड़ा-जुड़ा मैं कविता के शब्दों को खोजता रहा हूं। इस खोज में सामाजिक प्रतिकूलताओं से लड़ते रहने का आक्रोश और यदाकदा की थकन भी रही है तो वैयक्तिक व्यामोह भी। किन्तु जीने के लिए मिल रहे यथार्थ का सुलगता रंग, उसकी आंच, उसका आकर्षण मुझे व्यामोहों के भावोन्मेष से खीचता रहा है, तपाता रहा है, निकटतम परिवेश को स्थितिजन्य सापेक्षता मे जीने के तकाजे करता रहा है और मेरी सम्पूर्ण चेतना पर इतने तकाजो के हल्के गहरे दाग लगे हैं जिन्हें उजली नजर की सुई ने गहरे तक बीधा है।"

इस वक्तव्य में हरीश ने कविता के 'फार्म' पर भी कुछ कहा है, खास तौर पर गीत की 'छांदिकता' और 'सगीतात्मकता की चौखटोंवंधी संवेदना' के सिलसिले में, उन्होने यह पहचाना है कि "गेयता कवि की अतिरिक्त विशेषता हो सकती है पर काव्य-गुण की श्रेष्ठता का मानदंड नही हो सकती।"

गीत, नवगीत, शुष्क बौद्धिकता, यथार्थ से रागात्मक तादात्म्य, अनुभूतियों का सहज शिल्प बहुत से शब्द इस वक्तव्य में है लेकिन ये कवि के चित्त को अथवा उसके मन में 'फार्म' को लेकर चलने वाले 'द्वन्द्व' को किसी निर्णय तक पहुंचने मे मदद नही करते, वे गीत के प्रति अपनी पुरानी धारणा कायम रखते हैं, रागात्मकता को उनका वैष्णव मन स्वीकार करता है।

'सुलगते पिंड' मे हरीश 'अपनी ओर से...' आलेख मे प्रारम्भ करते ही पूछते हैं—सुलगते पिंड की कविताओं को आज की कविता कहूं? फिर उसका उत्तर है—"आज की कविता तो नए व्यक्ति और नए व्यक्ति सम्बन्धो की खोज की और निकटतम परिवेश को रागात्मकता के साथ जीने की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति की कविता है और एक साफ घोषणा भी—उन प्रतिकूलताओं-व्यामोहों—जो उसे अपने यथार्थ से दूर ले जाते हैं और अपनी अनुकूलताओं से घड़ने की स्वाभाविक प्रक्रिया से रोकते हैं—के विरुद्ध लड़ना आज की कविता का जैवी-धर्म है।"

इन दोनो काव्य-संग्रहों से हरीश के वक्तव्यों में अंश उद्धृत करने का अर्थ इतना-सा है कि वे एक जगह आकर अपनी कविता और भाषा को जिन्दगी के अधिकाधिक निकट लाना चाहते हैं। वे गीतो में आये 'अवरोध' को तोड़ने की कोशिश करते हैं, कई स्तरों पर तोड़ पाते हैं लेकिन 'रागात्मकता' के साथ बंधी जैवी-इच्छा उन्हें गीत को उथल-पुथल करने की ताकत तो देती है किन्तु गीत

मुक्त होने की ताकत नही देती। कही गहरे अचेतन में उन्होंने यह स्वीकार कर लिया है कि गीत भाषा ही 'रागात्मकता' को धारण कर सकती है।

हरीश के लिए यह समय (1960 से 1966) एक जबरदस्त निर्णय लेने का प्रतीत होता है क्योंकि रचना के लिए जहां से वे प्रेरणा ले रहे हैं वहां कोई संशय, धुंध नही है। सवाल है तो यह कि इस नंगे, क्रूर, विषम और अमानवीय यथार्थ को किस तरह की काव्य-भाषा मे व्यक्त किया जाए—सम्पूर्ण लालित्य और नाजो-नखरे वाली भाषा मे या कि एक पौरुषेय और क्रुद्ध भाषा में, अमूमन गद्य जैसी लगने वाली सपाट भाषा मे। हरीश फिर नहीं बदलते, उनके गीत का आन्तरिक रचाव यथावत् रहता है यद्यपि एक नये तेवर और सामर्थ्य से वे कही-कही खलबली मचाते हैं, भाषा-व्यामोहों को तोड़ते हैं जैसे 'एक उजली नजर की सुई' के पहले गीत में—

मैंने नही
कल ने बुलाया है
खामोशियों की छतें
आबनूसी किवाड़ें घरो पर
आदमी-आदमी मे दीवार है
तुम्हें छैनियां लेकर बुलाया है।

फिर दूसरी रचना में—

फेंक गया है
बरफ छतों पर
कोई मूरख मौसम
पहले अपने ही आंगन से
आग उठाओ तो जानू

एक और रचना पृष्ठ 33 पर

एक उजली नजर की सूई
आदमी-आदमी के फटे मन सिये
इस तरह गूंथ दे
फल जाए
किसी एक कल के लिए

आग धरती से उठे
घाटियां घूमती पर्वतो को छुए

मेरी भी
किसी कल के लिए
अक्षरों की जिन्दगी तेरे लिए

लेकिन हरीश के वैष्णव-मन की आत्मीयता का एक और फैलाव है उसी में से एक अहीरन थाली भर धूप लिए आ जाती है—

सिरहाने लोरी सुन
सोए पल जाग गए
अंजुरी भर दूध पिया
बिन बोले भाग गए
उडी-उड़ी फूलों की गंध
बांधने में मगन
थाली भर धूप लिए
बैठी अहीरन

क्या ऐसी और प्रकृति के हरे-भरे विस्तारों, आकाश, नदी, वनस्पतियों से आई कविताएं परिवर्तन विरोधी होती हैं ? मेरी दृष्टि में ये कविताएं कवि की प्रकृति-तादात्म्य की आदिम इच्छा से बनती है और आदमी को आदमी से जोड़ती है, उसके गहरे रस स्रोतों को प्रगट करती है। एक आत्मा के गहरे ताल में उसे निमज्जित करती हैं।

'एक उजली नजर की सुई' मे वे कवितायें भी हैं जो 1956 से लेकर 1960 के बीच लिखी गई हैं, उनका बुनियादी स्वर रूमानी है, वे स्मृति और अतृप्त प्रेम-आकांक्षाओं के कारण अपनी पहचान बनाती है।

'सुलगते पिंड' की कविताओं में अधिक आत्मविश्वास है, उनका मुख्य स्वर इन पंक्तियों मे है—

हम तराशे जा रहे हैं
नई सड़कें
नये सम्बन्ध
आंकते ही जा रहे हैं
नई सम्भावनाएं

या कि फिर

ओट मे दुबके हुओं को उत्तर भेज दो, कि
कच्ची मौसमी दीवार के

उस पार
जन्मने अकुला रही है
एक अरुण-ज्योति
जीवन की नई सम्भावनायें
बस, हमारे पहुंचने भर की प्रतीक्षा है

पुराने नये के बीच का अन्तर स्पष्ट करने की और नयी व्यवस्था और पुरानी व्यवस्था के भेद को समझ सकने की इच्छा के कारण हरीश प्रतीक चुनते हैं— *पुरानी हवेली*, दीमक *लगी* चमगादड़ों की भीड़ से चीखती, क्षय रोग के बीमार की तरह। इस हवेली के लिए हरीश के मन में रत्ती-भर भी मोहासक्ति नहीं है, इस हवेली के ढह जाने की एक रोमांचकारी—इच्छा उनके मन मे है—

—कि ढह जाये हवेली का बुढ़ापा
यह पैंवन्द वाली जातियां फट जाय
सब खुला-खुला हो जाय
हम आकाश ओढे
धरती को बिछायें
धूप खा
पी ले हवाएं

इसलिए अब से
हमारा साथ देती-
आस्था। तू आ
लम्बे हाथ—
जिजीविपाओं के फिराकर
पोछें जाले-दीमकें
हम मिट्टी गोद लावें
दीवार नयी कर दें
तू आ!
अंजुरिया भर-भर उलीचे धूप
आंगन मे
कि अन्धी हो जाये
सभी चमगादड़ें
हवा महके हवेली में
तू आ!!

'सुलगते पिंड' में आग शब्द का इतना प्रयोग जर्जर-व्यवस्था के ध्वंस के लिए है। व्यवस्था के मिजाज को बताने के लिए हरीश कविता को विवरणात्मक बनाते

हैं—एक नतीजे तक पहुंचते हैं और अन्त में भविष्य की खुशी के सपने बुनते हैं। लगभग हर कविता इन तीन स्थितियों से गुजरती है। हो सकता है कि कविता-लेखन की इस क्रिया मे एकरसता निहित हो लेकिन शायद यह उन सभी कविताओ के साथ जुड़ी तकलीफ है जो व्यवस्था-ध्वंस की पहल करती है।

सुलगते पिण्ड में कविता को जोड़े रखने और विस्तार देने के लिए 'कि' का प्रयोग हुआ है और जगह-जगह 'दोस्त' या 'मित्र' आदि सम्बोधन काम में लिया गया है।

1979 में हरीश की नई काव्य-कृति 'नष्टो मोह'···प्रकाशित होती है। 'नष्टो मोह' की भूमिका 'अथ नष्टो मोह' शीर्षक से है और अब तक की भूमिकाओ मे सब से लम्बी लगभग छ: पृष्ठों की है। कवि ने उसमें कई बातें कही हैं जो उनकी सामाजिक निष्ठाओं का सबूत है। उन सारी घोषणाओ को कवि ने इस प्रकार समेटा है—कविता समय और समाज सापेक्ष है। व्यक्ति समाज की पहली और अनिवार्य इकाई है। समय और समाज व्यक्ति के समग्र और विराट् के चिन्तन, जीवन और गति के ही परिचायक हैं। इसका अर्थ यह कतई नही कि व्यक्ति इकाई के अस्तित्व और गरिमा का कोई महत्त्व नही व्यक्ति का अस्तित्व उसकी गरिमा समग्र विराट् की सहभागिता के रूप में ही सार्थक है।

कविता मेरे लिए व्यक्ति और उसके समग्र आन्तरिक और बाह्य विराट को पहचानने की प्रक्रिया रही है। व्यक्ति से मेरा मतलब अपने समग्र विराट् के संदर्भ में अपनी सामर्थ्य और दुर्बलता को निरन्तर जाचते रहने और रूपायित करते रहने वाले व्यक्ति से है, यह वह व्यक्ति नही है जो निरंतर निजता जीता है, अव्यक्त और अरूप की साधना करता है, समाज के सम्पूर्ण साधन-श्रम-वैभव को वैयक्तिक अधिकार की सीमा में आस-पास के प्रति निरा-निस्प्रह भाव रखता हुआ भोगता है और सुविधाओं की लड़ाई लड़ता है।

यह वक्तव्य पहले के तमाम वक्तव्यों से भिन्न है और हरीश को उन संघर्षशील व्यक्तियों की कतार में ला खड़ा करता है जो साधन-श्रम-वैभव की सामाजिक मिल्कियत के लिए प्रतिबद्ध हैं। समाजवादी आन्दोलन के साथ जुड़े हरीश अब साम्यवादी आन्दोलन के साथ होकर कविता को सामाजिक बदलाव के लिए औजार की तरह काम मे लाने वालों की जमात में होते हैं।

'नष्टो मोह···' आत्मालाप की शैली में लिखा गया है, एक मुख्य श्रोता है 'दोस्त'। कवि पूरे समय व्यवस्था-त्रास की बात अपने जरिए कहता है। त्रास यह कि कवि कितनी निर्ममतापूर्वक व्यवस्था द्वारा उपयोग मे लाया गया है और जब-जब उसने इस व्यवस्था की साजिश समझने की कोशिश की तो—

करार दिया गया है उसे
तीसरा आदमी

हां, तीसरा आदमी
दाग दिया जाता है जिसे
कभी सुकरात, कभी गेलीलियो
खुदीराम, कन्हाई
कभी लुमुम्बा, कभी चेग्वेवारा
एदित के नाम से
और होने लगता है जमात
जब भी यह तीसरा आदमी
संज्ञा तक पोंछ दी जाती है उसकी
गर्भाशय तक धो दिये जाते हैं बारूद से
फसल ही न हो
कई सौ मौसम,

नष्टो मोह—मे जगह-जगह गीता के श्लोक उद्धृत है। वे कविताओं को बहु भाषायी बनाने के लिए नही बल्कि 'थीम सोंग' की तरह हैं। दरअसल वे हरीश की उदारतावादी वैष्णव-परम्परा के हिस्से हैं। ऐसा न होता तो एक नाट्य-शैली का ईजाद करते हुए वे इस श्लोक की कविता का हिस्सा नही बनाते—

अपनी महारत के जुए में
जकडे रहने वाले परम भट्टारको सुनो
नष्टोमोह स्मृतिर्लब्धा
त्वत्प्रसादान्मया च्युत
स्थितो स्मि गत सन्देह
करिष्ये वचनंतव

(मेरे मोह नष्ट हो गये हैं, मुझे अपने वास्तविक रूप और कर्तव्य का बोध हो गया है, अब मैं संशयों से मुक्त हूं और आपके कथनानुसार अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करने को तत्पर हूं)

असमंजस है कि एक देहान्तरवादी ब्राह्मण-स्वर भी 'नष्टोमोह' में विद्यमान है। साम्यवादी मोर्चे पर 'मोह भंग' की यह स्थिति कितनी उपयोगी या कि विवादास्पद होगी कहना मुश्किल है।

'नष्टोमोह' एक बड़े इरादे वाली कविता-पुस्तक अवश्य है लेकिन कुछ कारणों से उसे शुरू से आखिर तक पढ़ना कठिन है, भाषा की कठिनाई, शब्दों को गीत के उपयुक्त बनाने के लिए उनका स्वरूपान्तर, शुरू से अन्त तक का आत्म-कथन और एक पंडिताऊ आभिजात्य 'नष्टोमोह' को मामूली आदमी के अथाह दुःख का काव्य नही बनने देते। 'नष्टोमोह' का भाषायी गठन और काव्य शैली गीत प्रमुख है। इतिहास की इतनी त्रासदायक स्थितियों और व्यवस्था के ऐसे क्रूर

हादसों के वर्णन के लिए 'नष्टोमोह' का भापायी आभिजात्य बहुत अनुकूल नही है।

1981 मे 'खुले अलाव और पकाई घाटी'···काव्य-संग्रह प्रकाशित होता है। इस संकलन मे हरीश ने अपनी तरफ से कोई बात नही कही है लेकिन फ्लेप पर जो लिखा है वह इस प्रकार है—

—कवि-कर्म निस्सन्देह जीवन के बहु विधि आयामो मे गुजरते हुए अनुभूत सत्यो की कलात्मक अभिव्यक्ति है···और सामाजिक रूप में जागरूक तथा सामाजिक परिवर्तन मे कला को एक कारगर हथियार मानने वाला कवि अपने अनुभूत सत्यों को कलात्मक रूपो में मात्र व्यक्त नहीं करता बल्कि जन-मानस की संवेदनात्मक चेतना को उद्वेलित-आन्दोलित करता हुआ उसे ज्ञानात्मक स्तर की ओर उन्मुख करता है···इस तरह रचनाकार व्यक्ति समाज की गति और प्रगति को त्वरित करता है···गीतकार हरीश भादानी की 'एक उजली नजर की सुई' मे सोच का यह आधार स्पष्ट आकार लेता है वहा 'खुले अलाव पकाई घाटी' मे कवि अपने इस आधार के साथ गांव से महानगर और महानगर से गाव की बहुआयामी-यात्राएं करता है···शोषण पर आधारित इस व्यवस्था में रेत और सड़क, सायरन और फरनेस से जुड़े जीवन को जहां रचनाकार ने तिल-तिल जलते देखा है वहीं उसने इसी संसार मे नए जीवन सम्बन्धों के लिए संघर्ष का उत्स भी देखा है।

इस वक्तव्य में हरीश की कविता के सामाजिक सरोकार और व्यवस्था के प्रति उनकी नाराजगी पिछले सभी वक्तव्यों से ज्यादा स्पष्ट है। व्यवस्था तब्दीली के लिए कला को 'कारगर हथियार' बनाने की बात सी० पी० एम० के साथ होने का संकेत भी है फिर भी हरीश वाचाल राजनीतिज्ञों की तरह कला सरोकारों का दूसरा दर्जा नही देते, यह द्रष्टव्य है।

वक्तव्य में यह कहना—कि "गीतों के माध्यम से कवि ने जीवन को रागात्मक अभिव्यक्ति दी है—सार्थक है। यही हरीश होने का मतलब है, यही 'एसेन्सियल हरीश' है। गीत, रागात्मकता और हरीश एक साथ होते हैं।"

हरीश की कविता और उनकी भाषा अनगढ़ जीवनानुभव और लयहीन संसार से कुछ नही लेती। एक संस्कारवान आभिजात्य, साफ-सुथरा शब्द-रचाव अपने पीछे एक अनुगूंज छोड़ जाने वाले लय-शब्द यह उनकी काव्य विशेपता है। इसी के द्वारा अपने पाठकों के मन मे इस विपमतामूलक व्यवस्था के लिए तीव्र वितृष्णा बल्कि घृणा और बदलाव की जबरदस्त ललक उत्पन्न करना चाहते हैं। किन्तु वर्ग-द्वेप की टुच्चाई चालाकी और आत्म-हीनता को जड़ से उखाड़ने के लिए हरीश की रागात्मक लयनिबद्ध रचनायें ना-काफी औजार है। यदि हरीश इन गीतो से, राजनीति, करना या सामाजिक तब्दीली के ख्यालों को पुरअसर

बनाना चाहते हो तो उन्हे शायद निराश होना पड़े।

'खुले अलाव पकाई घाटी' का शब्द, जीवन के रूमानी अनुभवों के कारण नही किन्तु गीत के लयात्मक गठन के कारण ही अपने बुनियादी अर्थ और प्रभाव को छोड़कर दूसरा कोमल और आत्मीय अर्थ ले लेता है। मिसाल के लिए 'रेत है रेत' रचना का बुनियादी अर्थ-फैलाव और सोच क्रान्तिकारी है। रेत का बिफर जाना, नाराज हो जाना और फिर ताकतवर लाव-लश्करों को आगे न बढ़ने देना, कोई मामूली बात नही है, सचमुच तो वह एक 'क्रान्ति' प्रतीक है, मामूली आदमियों का नाराज होना, बिफर जाना, फिर बड़े-बड़े सूरमाओं का विजयोन्माद देखते-देखते समाप्त हो जाना ये कुछ अर्थ ध्वनित होते हैं, किन्तु इस गीत में बंध कर रेत की यह प्रतीकात्मक उग्रता नही रह पाती। एक जगह वह 'खम खाकर' उठती है एक नाजनी की जुल्फ की तरह, फिर शहर मे जाती है, लेकिन हो चाहे जो जाय 'आंधी नही' हो पाती, यही हरीश इस 'खम' से मात खा जाते है।

उठी गांव से ये खम खाकर,
एक आंधी-सी—शहर जायगी।

अब इस आंधी से कोई क्यों डरेगा, सेठ तो क्या चौबदार भी नही। ज्यादा से ज्यादा वह 'मौसम अच्छा नही है' कहकर खिड़की, दरवाजा बन्द कर लेगा। गांव की रेत दरवाजे पर दस्तक देकर लौट आएगी। मैं हरीश की गीत की बन्दिश को या उसके साहित्यिक मिजाज के लिए कुछ नही कह रहा। मैं सिर्फ गीत को 'इन्फ्रास्ट्रक्चर' की मजबूरी बता रहा हूं। हिन्दी के गीतकारो के लिए जो प्रशंसा भाव मेरे मन मे हैं वह यथावत है। लेकिन क्रांति-गीतों की बुनावट के सिलसिले मे हरीश को मिले संस्कार या—कि दूसरों को भी यदि ऐसे ही संस्कार मिले हों तो फिर से उन्हें सोचना पड़ेगा और 'निराला' भी तरह लोकधुनों पर कजरी या दूसरे गीत लिखने पड़ेंगे।

यही बात 'ऐपणा' पर लिखे गीत के लिए है—

लिखनी थी—जिनसे
अगले ही क्षण
अर्थवती पोथी
वे कौन जुबानें थी
दरवाजे रख गई पत्थरों की भाषा
कागज के नरम कलेजे पर
कैसे हरफ बिछाऊं।

गीत की इतनी कोमल रचना है कि मन विषाद में डूब जाता है, दूसरी कोई प्रतिक्रिया नही होती। इस विचार में हर कोई शामिल हो जाएगा। लेकिन यह तो

'अकाम्य' हैं, 'पत्थरों की भाषा' देने वाले, पोथी के नरम कलेजे को चीरने वाले और उनकी इस क्रूरता से अभिशापित सभी समान विषाद में डूब जाएं तो 'क्रांति अभिप्राय' को कहां तलाश करना होगा ?

अच्छा है या बुरा, जो हो, लेकिन रागात्मकता में कोई कमी नही आए ये हरीश निरन्तर ख्याल रखते है, आभिजात्य उनकी मदद करता है और हर कविता मे एक 'चित्र-शब्द छवि' अंकित होती है—

बरसात के बाद की
गुनगुनी धूप की छाह् में
रह् न जाए कही
आगने मे नमी
आवाज दी है तुम्हे इसलिए।

हरीश की कविता शक्ति संस्कारशीलता, रागात्मकता, शब्दों की रूपात्मक बुनावट और अनुगूज मे है। उनका सोच क्रान्ति-धर्मी, हवेली ध्वंस में है। उनकी जद्दोजहद यह है कि वे इस क्रान्ति-सोच को कविता के जरिये कैसे फैलाएं और कैसे वो वर्गविहीन, सर्वहारा की प्रमुखता कायम करें। हरीश जो भी सोचें, अपनी राजनीतिक छवि जो भी बनाएं, लेकिन जिन रागात्मक गीतों मे वे क्रान्ति-सोच समाविष्ट कर रहे हैं वह 'सर्वहारा की क्रान्ति' को शायद ही आगे बढ़ाए। व्यवस्था की त्वचा इतनी मोटी हो गई है कि इन सुरुचि सम्पन्न गीतों से वहां खरोच तक आने वाली नही है।

हरीश जिस आयु के हैं और इतने दिनों जो काव्याभ्यास उन्होंने किया है वहां से भाषा की नयी भूमि तलाश करने के लिए यायावरी करना, शब्दों के आभिजात्य से सर्वहारा की गरीबी और यातना के भयावह यथार्थ को चित्रित करना, इतनी मोहक शब्द-ध्वनियों और गुनगुनी धूप और वनस्पतियों के रूप-संसार से संसार के कबाड़खाने मे लौटना, व्यक्ति हरीश के लिए सभव हुआ हो लेकिन कविता के लिए नही हुआ है। हरीश ने'''इस सारे शब्द संसार के साथ बहुत नजदीक की पहचान बना ली है—उस पहचान को खोने के बाद उन्हे पहचान पाना जरूर कठिन होगा।

जिस राजनीति के साथ हरीश है या कि दूसरे हैं इसकी बहुत-सी जरूरते हैं, उनके लिए काम करते हुए हरीश जिन कुंठा रहित संस्कारशील गीतों को लिख रहे हैं, लिखते ही चले जाएं तब भी उन्हें 'प्रतिक्रान्तिवादी'''कहने का साहस किसी को नही होगा।

# महाजनी सभ्यता का तिलस्म और प्रेमचंद

प्रेमचंद के साहित्य में किसानो और मजदूरों के शोषण का हादसा सब कही विद्यमान है, किन्तु 'गोदान' की समाप्ति और 'मंगलसूत्र' के प्रारम्भ के साथ वे महाजनी सभ्यता के आतंककारी विस्तार से परिचित हो गए थे। इसलिए 'महाजनी सभ्यता' निबंध मे पूंजीवाद के जिस विकराल रूप का वर्णन है, उसे ही 'मगलसूत्र' के देवकुमार एक तर्क-संगति देते हुए कहते हैं कि "जिस राष्ट्र मे तीन-चौथाई आदमी भूखो मरते हों, वहां किसी एक को बहुत-सा धन कमाने का कोई नैतिक अधिकार नही है, चाहे इसकी उसमे सामर्थ्य हो।" सामर्थ्यवाली बात कह कर प्रेमचंद उन सारे पूंजीवादी-दार्शनिकों का तर्क-व्यामोह भंग कर देते हैं, जिसका उन्हे बहुत गर्व है और जिसे वे अकाट्य समझते हैं। 'वैयक्तिक प्रतिस्पर्धा' के जिस तर्क को वे मनुष्य-जिजीविषा का हिस्सा बनाते हैं, वह बुनियादी रूप से लालची और ईर्ष्यालु कर्म की हिस्सेदारी है। इसीलिए प्रेमचंद ने एक दूसरे आलेख 'नया जमाना-पुराना जमाना' में पूंजीवादी समाज पर टिप्पणी करते हुए लिखा—"यह सभ्यता शहद और दूध की नदी अपने कब्जे में रखना चाहती है और किसी दूसरे को एक घूट भी नही देना चाहती। वह खुद आराम से अपना पेट भरेगी, चाहे दुनिया भूखी मरे।"

कंचन-लोलुप पूंजीवादी सभ्यता के सम्बन्ध मे लिखते बोलते हुए प्रेमचंद मे एक बौद्धिक प्रखरता है—ज्यादा अच्छा हो, यदि उसे नैतिक प्रतिबद्धता कहे। नैतिक प्रतिबद्धता होने के कारण ही प्रेमचंद का विरोध-स्वर उन सब अविश्वसनीय राजनीतिज्ञो से अलग होता है, जो सिर्फ बातूनी हैं और ऐश्वर्यमयी जिंदगी जीते हैं। यही प्रतिबद्धता उन्हे उन सारे धर्माचार्यों से भी अलग करती है, जिनका नैतिकता-बोध मनुष्य की जिंदगी के बिलकुल पास खड़े सवालों और भयावह अत्याचारों से कतराता हुआ निकल जाता है।

मै यह जोर देकर कहना चाहता हू कि प्रेमचंद 'गरीबी के अध्यात्म' से जुड़े थे। हजारो जगह और सैकड़ो प्रसंगों में प्रेमचंद 'कांचन मुक्ति' के अध्यात्म को दुहराते हैं। वे लिखते है—"मै कल्पना ही नही कर सकता कि कोई बड़ा आदमी

बडा धनपति हो। जैसे ही मैं किसी आदमी को बहुत अमीर देखता हूं, उसकी तमाम कला और ज्ञान की बात का नशा मेरे ऊपर से उतर जाता है। मैं उसे कुछ इस तरह देखने लगता हूं कि उसने इस वर्तमान समाज-व्यवस्था के आगे घुटने टेक दिए हैं। जो अमीरों द्वारा गरीबों के शोषण पर आधारित है। लिहाजा कोई नाम, जो लक्ष्मी से असंपृक्त नही है, मुझे आकर्षित नहीं करता''' मैं खुश हूं कि प्रकृति और भाग्य ने मेरी सहायता की है और मुझे गरीबों के साथ डाल दिया है। इससे मुझे आध्यात्मिक शान्ति मिलती है।"

प्रेमचंद जब गरीबो के साथ होते है, तब वे किसी रूमानी अंदाज में नही होते, उसे शोभामय नही बनाते और न उसका स्तवन करते हैं; बल्कि, उसकी सारी शोभा-यात्रा के छल को खोलते हैं और एक अदृश्य, गोपन हिंसा की धूर्तता को जाहिर करते हैं; उसके लंपट स्वभाव को समझाते हैं, जिससे आदमी डरे नही और अमीरों की हैसियत का कारण समझे। उसे असली रूप मे पहचाने। 'संपदा का मेस्मेरिज्म' विनष्ट करने का काम करते हुए उन्होंने 'महाजनी सभ्यता' आलेख मे एक स्थान पर लिखा है—"इस महाजनी सभ्यता के सारे कामों की अरज पैसा होता है'''इस दृष्टि से मानो आज महाजनों का ही राज्य है। मनुष्य समाज दो भागों मे बट गया है। बड़ा हिस्सा तो मरने और खपनेवालों का है। और, बहुत ही छोटा हिस्सा उन लोगों का है, जो अपनी शक्ति और प्रभाव से बड़े संप्रदाय को अपने वश मे किए हुए हैं। उन्हे इस बडे भाग के साथ किसी तरह की हमदर्दी नही, जरा भी रियायत नही। उसका अस्तित्व केवल इसलिए है कि अपने मालिकों के लिए पसीना बहाये, खून गिराए और एक दिन चुपचाप इस दुनिया से विदा हो जाए'''"

यह लिखना आज नितांत गैरजरूरी है कि पूंजीवाद का आखिरी लक्ष्य क्या है? सब जानते हैं कि मनुष्य मे जो कुछ श्रेष्ठ है, जो उसका सत्य है, वह उसे निचोड लेता है। सारे मानवीय रिश्ते व्यर्थ होते प्रतीत होते हैं। मानवीय संवेदनाओं को इस तरह बेरहमी से काट कर पूजीवाद समाज और व्यक्ति के बीच शिकार और शिकारी का रिश्ता कायम करता है। शिकारी के मन मे शिकार के प्रति कोई भाव, कोई संवेदना नही होनी चाहिए। इसके चलते "पूज्य पिताजी भी पितृभक्त बेटे के टहलुए बन जाते हैं। मां अपने सपूत की टहलुई, भाई भी भाई के घर आए तो मेहमान है'''इस सभ्यता की आत्मा है व्यक्तिवाद।"

अंत तक प्रेमचंद उस तिलस्म को तोडना चाहते हैं, जो ईश्वरीय विधान के नाम से पूरे देश में पैर फैला कर निश्चित पसरा पडा है। जो अमीर हो गया है, 'ईर्ष्या, जोर-जबरदस्ती, बेईमानी, झूठ, मिथ्या, अभियोग-आरोप, वेश्यावृत्ति, व्यभिचार, चोर-डाके, इत्यादि उन सब क्रूर कर्मों के जो वर्जित हैं, उन्हे रहस्यमयता का साथ स्वीकार करता है 'ईश्वरेच्छा' की मुहर लगाता है। इस मायावी

ईश्वरेच्छा के विरुद्ध प्रेमचंद अनवरत संघर्ष करते हैं।

प्रेमचंद मानने लगे थे कि 'महाजनी सभ्यता' के खिलाफ 'नयी सभ्यता' का जिहाद शुरू हो गया है। 'कांचन मुक्ति' का जिहाद शुरू हो गया है। 'कांचन मुक्ति' का जिहाद मामूली नही है। फिर भी, वे एक महान आशावादी की तरह कहते है—"इस पैसा-पूजा को मिटा दीजिए, सारी बुराइयां अपने-आप मिट जाएंगी।"

व्यक्ति-संपदा के संबध मे उग्र विचार रखने वाले प्रेमचंद उग्रवादी होते नजर नही आते। एक वयस्क समझदार, सहनशील तर्क-प्रिय व्यक्ति की मुद्रा अख्तियार किए रहते हैं। एक आत्मीय विपक्ष की स्थिति मे असपत्तिवाद का स्तवन करते है। संपत्तिवानों को 'आत्म-निरीक्षण' करने का ख्याल आ सकता है और प्रेमचद शायद सोचते रहे हों कि इस तरह वे लोक-कल्याण के लिए 'धन-संचय' से विरत हो जाएं।

'कचन मुक्त' होने की मानवीय दलीलों से प्रेमचंद का साहित्य ओत-प्रोत है। किन्तु एक अमानवीय, हिंसक, निष्करुण, विभाजित, वर्गो मे, श्रेणियों मे बटा संसार आज कही अधिक फैल गया है। गरीबी के अध्यात्म और उसकी आवश्यकता का प्रतिपादन करने वाले मन से लक्ष्मी के जादुई तंत्र की गिरफ्त मे है। 'कांचन मुक्ति' का दर्शन और विज्ञान फैलाने के लिए अब बहुत कम प्रेमचंद नजर आते हैं।

# राममनोहर लोहिया

1948 की बात है। नेहरू जी के दबदबे और हिन्दुस्तान की राजनीति पर गौर-वर्ण, कुलीन उच्चवर्णियों, अंग्रेजी भाषाविदों और औपनिवेशिक परंपराओं पर अंगुली न उठानेवाली नौकरशाही के प्रभुत्व के दिन। तब कोटा में पहली बार लोहिया जी के दर्शन हुए, नेहरू से भिन्न, मामूली आदमी की तरह बाजार में खड़े, किसी का इंतजार करते, सामान्य-सी ऊंचाई, रूखे अव्यवस्थित बाल, नेताओं से बिलकुल भिन्न—अनेता। मैं चकित भी हुआ और मुग्ध भी।

जयप्रकाश नेहरू से मिलते-जुलते थे। सोशलिस्ट पार्टी के लाल झंडे की पृष्ठभूमि में खड़े होकर जयप्रकाश जब विशाल जनसभाओं को संबोधित करते, तो वे नेहरू जैसे लगते, वैसे ही गौरवर्ण, सुआकृतिवान भीड़ के आचरण से कभी-कभी क्षुब्ध होते। नेहरू-जयप्रकाश में इतना साम्य था कि लोग नेहरू के बाद जयप्रकाश के प्रधानमंत्री होने की घोषणा करते।

जयप्रकाश नेहरू से विमुख नहीं हुए। जयप्रकाश की चित-रचना परम्परा, इतिहास और काल की अनंतता से हुई थी। लोहिया जी के बारे में सोचते हुए यह खयाल आता है कि सत्य को पहचानने के लिए वे काल को मिथ्या नहीं मानते थे; उसकी अगति को हिलाने के लिए वे जनांदोलनों की तैयारी में लगे रहे। पुरातन-रिश्तों, परम्परा और इतिहास का बोझ उठाने के बजाय उनकी पुनर्रचना और व्याख्या का काम उन्होंने किया। जब नेहरू और दूसरे बहुत से विचारक अमूर्त और तिलस्मी शब्दों के जरिये स्वाधीनता की व्याख्या में लगे थे, सिर्फ लोहिया थे जो उसे एक देखी जानेवाली मूर्त, विश्वसनीय और प्रामाणिक अर्थवत्ता देने का तर्क दे रहे थे। इसलिए उन्होंने समान 'भोजन, भवन, भूषा' का तर्क आविष्कृत किया। भूखे, निर्वसन अथवा अधनंगे, बेघर, डरे, रोगी और भाग्यवादी लोगों के लिए दूर भविष्य के सपने और महान औद्योगिक देश-निर्माण की लंबी-लंबी बहसें अप्रासंगिक ही तो थीं। साम्यवादियों की तर्क-शैली में दीर्घकालीन बलिदान का हिस्सा लोहिया को छलावा लगता रहा, क्योंकि वह नीरस, असहनीय और क्रूर वर्तमान को सहने के लिए सिर्फ तर्कजाल था।

लोहिया को पहचानने के लिए 'शब्द और कर्म' के संबंध में उनका तर्क जानना बहुत जरूरी है। नेहरूवाद का सारा संकट यह था कि वह शब्दों की एक रमणीय, मायावी दुनिया बनाता था। कर्म उसे अप्रीतिकर था। इस दुनिया से धीरे-धीरे लोहिया का 'मोहभंग' होने लगा था। आजादी के बाद वाले देश की मोहक तस्वीर धूमिल होती गयी। 'क्रान्ति, जोखिम, तकलीफ और त्याग' का युग उनके देखते-देखते 'भोग के युग' में बदल गया। निराशा के कर्तव्य में उन्होंने एक तल्ख-टिप्पणी करते हुए लिखा—"अजीब हालत है कि जिसको क्रांति चाहिए, उसके अंदर शक्ति है ही नही और वह शायद सचेत हो कर उसकी चाह रखता ही नही और जिसमें क्रांति कर लेने की शक्ति है, उसको क्रांति चाहिए नही या तबीयत नही है। मोटे तौर पर राष्ट्रीय निराशा की यह बात है। समय का ख्याल नही रखता बकवासी हो गया है। मेहनत करना नही जानता, आलसी हो गया है। इसमे कोई सदेह नही है कि इस वक्त हिन्दुस्तान, हम लोग, दुनिया मे सबसे झूठे, सबसे आलसी और सबसे निकम्मे हो गये हैं।" स्थितियों की इस भयावहता मे नेहरूवाद का मायालोक तोडना एक बड़ी जरूरत थी। 'सिविल नाफरमानी' का राज-नीतिक कर्म यही से, अकर्म आलस्य की मूर्च्छा तोडने के लिए, शुरू होता है। सत्ताधीशों के दर्प और अन्याय के विरुद्ध 'सिविल नाफरमानी' के सिवा दूसरा कोई कारगर उपाय लोहिया जी को नजर नही आता था।

बाद के दिनो मे 'शब्द की मरजाद' बढ़ाने के लिए लोहिया ने एक ऐसा प्रसंग चुना कि जिससे पार्टी सगठन की बेबसी, सत्ता-लोलुपता, आचरण का अत-र्विरोध, कमजोर चरित्र, शब्द और कर्म के द्वैत का नाटक खुल गया। पट्टमथानु पिल्लै की सरकार ने गोली चलायी, लोहिया ने सरकार से त्यागपत्र देने को कहा, क्योंकि गोली-कांड पर समाजवादी, कांग्रेसी सरकारों पर त्यागपत्र देने के लिए दबाव डालते थे। पट्टम की सरकार तर्क देने लगी, ठीक कांग्रेसी सरकारों की तरह। कर्म के समय पीछे हट गयी। लोहिया ने कार्यकारिणी से त्यागपत्र दे दिया, जिसके वे महामंत्री थे।

बहसवाजी के बीच लोहिया की 'राजनीतिक किशोर दृष्टि' पर कुछ बातें कही गयी, लेकिन शब्द और कर्म की अभिन्न शिनाख्त के लिए वे लंबे समय तक याद किये जाते रहे। लोहिया हमेशा जन-योद्धा रहे, बराबरी और स्वाधीनता के लिए संघर्ष करते, प्रेम करते, सिद्धान्तों की जड़ता तोड़ते, टुकड़ो मे बंटी दुनिया के बीच पुल बनाते।

दूसरी बार लोहिया जी रतलाम मे मिल गए। मैं तो उन्हें पहचान ही गया, लेकिन उनका बड़प्पन कि उन्हें मैं याद रहा, देखते ही पहचान गये। अपने डिब्बे तक, डिब्बे मे ले गए। मेरा टिकट बदला लिया और बाहर भीड़ मे, एक मामूली दुकान पर चाय पीने ले गये। कहा 'भीड़ मे चलो' आभिजात्य मे शामिल होने

की बेतहाशा दौड़ और भीड़ को केवल राजनीतिक मरकजों तक पहुँचने की सीढ़ी समझनेवाले नेताओं से बिलकुल भिन्न यह व्यक्ति कहता है कि 'भीड़ में चलो।' मैं देखता हूं, तुरन्त लोहिया दुकान पर बैठे लोगों से गहरी पहचान कर लेते हैं, उनके दुख-सुख मे घुल-मिल जाते हैं। मैं दुबारा चकित और मुग्ध होता हूं।

लोहिया यायावर थे। प्रथम श्रेणी के डिब्बे मे वे बहुत थोड़े-से सामान और ढेर-सी पुस्तकों के साथ थे। बिस्तरबंद पर आचार्य नरेंद्र देव का नाम लिखा था। वे टी० एस० इलियट की कोई पुस्तक पढ रहे थे—'मर्डर इन द कथीड्रल' हो या 'ट्रेडिशन एँड मॉडर्निटी' मुझे ठीक से याद नहीं। उनके पढने का अंदाज कुछ भिन्न था। वे शब्द नहीं, हो सकता है पूरी पंक्ति या कि पूरा पैरा, पृष्ठ पढ़ते हों, इसलिए सपाटे से, तेजी से, पृष्ठ-पर-पृष्ठ पढ रहे थे। यूरोपीय साहित्य और परंपरा से परिचित होने के कारण हो सकता है इलियट उन्हें कठिन न लग रहे हों, अन्यथा उन्हें पढ़ना और समझना अमूमन कठिन माना जाता रहा है।

उस समय सोशलिस्ट पार्टी को कठिन निर्णय लेना था। उसे 'जनाधार' देना था। यह बहस छिड़ी हुई थी कि साम्यवादी पार्टी की तरह सोशलिस्ट पार्टी मे दाखिल होनेवालों की निष्ठा परखी जाये या कि जैसे प्रायः खुली सदस्यता होती है—हो। लोहिया एक खुली पार्टी बनाने के पक्ष में थे। वे देर तक मुझे सोशलिस्ट पार्टी को आम आदमी की पार्टी बनाने के पक्ष में समझाते रहे। इस बीच इंदौर आ गया। वहां से कुछ संभ्रांत लोग हमारे डिब्बे मे बैठे। मैं नहीं कह सकता वे कौन थे, लेकिन वे जिस तरह बातें कर रहे थे, उससे लगता था कि वे लोहिया जी को पहचानते थे और चाहते थे कि लोहिया राजनीतिक परिदृश्य पर कुछ कहें। लेकिन वे शांत मन इलियट की पुस्तक समाप्त करने में लगे रहे। उन्हें उस बड़े झोले में रखी ढेर-सी पुस्तकें पढ़नी थी। उनके पास रेल के डिब्बे में बैठे समय काटने की गरज मे संवाद करने वालों के लिए कम समय था। कम क्या, एकदम समय नहीं था।

लोहिया जी से फिर मिलना नहीं हुआ। जरूरत भी नहीं थी। हिन्दुस्तान मे जितने समता और स्वतंत्रताकामी लोग थे (और वे कम नहीं थे) वे लोहिया जी का आह्वान सब दिशाओं मे, सब दिशाओं से सुन रहे थे।

मानवीय आकांक्षाओ के संबंध में कोई गणितीय समीकरण मुझे याद नहीं है। शायद इसीलिए मुझे याद नहीं है कि यायावरों, फक्कड़ों या कि जिन्दगी को बेचैनी के छोर तक, यहां तक कि भूख-प्यास, जेल, मुकदमे, दंड, यातना, तिरस्कार तक ले जाने वाले के पास क्या होता है—क्या होता है जो उनकी भाषा के बेइंतहा आक्रोश, दर्द और सृजनात्मक ऊर्जा को आत्मा के आर-पार जाने वाला तर्क और प्राणों को उत्सर्ग कर देने की लापरवाही देता है। लोहिया जी को याद करते समय यह सोचना आवश्यक है, क्योंकि गांधी के बाद खुले आम जेल चलने

सत्ताधीशों, अर्थशास्त्रियों और आंकड़ेबाजों को हतप्रभ और शर्मिन्दा कर दिया। बाद में सरकार के वित्तमंत्री चार पैसे इधर-उधर बताने का नाटक करते रहे, लेकिन लोहिया को झुठला नहीं सके।

*राजनीति के फरेब और क्रूर सामंती आचरण को उद्घाटित करते हुए भी* देश के सांस्कृतिक सरोकारों से जुड़े रहने की कोशिश लोहिया को एक लासानी राजनेता और बड़ा आदमी बनाती है।

सांस्कृतिक सरोकारों के सिलसिले मे उन्होंने एकदम अछूती अन्वेषी दृष्टि का परिचय दिया है। इसी क्रम में उनकी भाषा एकदम अनोखी और अर्थगर्भी हो गयी है। ऐसा प्रवाह, इतनी ताजगी, रचनाशीलता और मोहकता कम लेखकों में मिलती है—राजनेताओं मे तो एकदम नही। भारत की संस्कृति के वे आधुनिकतम भाष्यकार थे, उसके उतार-चढ़ाव, दर्प, दर्द, करुणा, क्रूरता, अभिनवत्व और प्राचीनता और दूसरी वक्र और सीधी भंगिमाओं को प्रतिपादित करने और अर्थ देने का दायित्व उन्होंने स्वीकार किया था। हिन्दुस्तान के सांस्कृतिक विकास को वे कट्टरतावाद और उदारतावाद की धाराओ में बाटते व्याख्यायित करते थे। एक समय आया है जब कट्टरतावादी शक्तियां देश में फैली। साहित्य, विज्ञान, धर्म, कला, संगीत, स्थापत्य, लोक-व्यवहार, धर्म-विचार के स्रोत सूख गये। फिर उदारतावादी शक्तियों के विस्तार के साथ साहित्य, कला, धर्म, विचार विकसित हुए। कट्टरतावादी शक्तियों की पहचान कराते हुए वे गोडसे को उसका प्रतीक बनाते हैं। उदारतावादी शक्तियों के प्रतीक पुरुष गांधी हैं। लोहिया चाहते थे कि एक लचीले दिमाग और उदारपंथ की गांधी संस्कृति फैले।

राम, कृष्ण और शिव के व्यक्तित्व का वर्गीकरण करते हुए उन्होंने कृष्ण को बहुआयामी पूर्ण पुरुष का दर्जा दिया है। कृष्ण क्रांति और प्रेम के अनोखे देवता थे। एक हाथ मे बांसुरी, सृजन और भुवन मोहन संगीत, दूसरे मे पाचजन्य, सहार और विद्रोह का घोष। एक आंख में करुणा के बादल और दूसरे में अन्याय-दहन के लिए अग्निवर्षा, यह लोहिया के मन में नई युवा-पीढ़ी की कल्पना थी। इसी नये पुरुष के जन्मोत्सव के लिए वे सांस्कृतिक-राजनैतिक जमीन तैयार करते रहे।

रंगों में श्याम वर्ण को वे भारत का जन्म-रंग मानते रहे। राम और कृष्ण के संबंध मे—श्याम शरीर की उर्वरा कल्पना उन्हे अनोखी लगती रही। गोरे रंगों से भारतीय-संस्कृति के रंग-सेतु नही बन सकते थे, इसलिए भारत के इन दोनों महापुरुषों को कवियो ने श्याम-वपु, श्याम वर्ण दिया। श्याम वर्ण को गोरी दुनिया और सौन्दर्य के प्रतिस्पर्धी संसार में सम्मानपूर्ण स्थान दिलाने का प्रयास मेधावी लोहिया के सिवा कौन कर सकता था?

स्त्री-हकदारी के लिए जो वैचारिक संघर्ष लोहिया ने किया वह अप्रतिम था। 'द्रौपदी और सीता' के बीच क्रांतिधर्मी द्रौपदी को वे महत्त्वपूर्ण स्थान

देते रहे। मृत्यु से संघर्ष करते हुए भी अपनी कुशल-क्षेम पूछने के लिए आई श्रीमती इंदिरा गांधी को देखकर उन्होंने कहा, "इन्हें कुछ खिलाओ, राजनारायण, ये हमारे देश की प्रधानमंत्री हैं।" उन्हें दुःख था कि इस देश की स्त्री प्रधानमत्री देश की गरीब स्त्रियों को न एक सस्ता चूल्हा दे सकी, न एक सस्ता, आरामतलब झाड़ू। एक व्यापक दुख के बीच से लोहिया वोलते थे, इसलिए वे राजनीतिक टट पूंजियापन के आरपार चले जाते थे।

शूद्र, हरिजन, मुसलमान और देश के दूसरे असंख्य लोगों के लिए वे 'खामोश मसीहा' नही थे। वे मनुष्य की हैसियत से सारी दुनिया के मनुष्यों की यातना, पराधीनता, विषमताहथियार के विरुद्ध बोलते रहे।

देश में जो चल रहा है उसे देखते लोहिया जैसे व्यक्तियों के सिद्धांत तफसील से बताये जायेंगे, यह संभव प्रतीत नही होता, इसलिए उस प्रत्येक अवसर की तलाश आवश्यक है जब उस आदमी के संबंध मे बताया जा सके जो अबाध खुशियों, संभाव्य समता तथा मानवीय स्वाधीनता के सपनों के लिए बहस, कर्म, तर्क, जेल, क्रांति याकि हर संभव उपाय काम मे लेता रहा।

# तरोताजा कमल

मुझे बार-बार प्रतीत होता है कि मृत्यु के बाद मनुष्य कुछ ऐसी रिक्तता दे जाता है जो कभी नही भरती। मेरा कहना यह नही है कि मृत व्यक्ति से अधिक तेजस्वी व्यक्ति शेष नही रह जाते या कि जन्मते ही नही। मेरा कहना तो इतना ही है कि सबके रहते जन्मते भी मृत्यु प्राप्त करने वाले व्यक्ति की आन-बान, सज-धज, पसदगी-नापसंदगी, प्यार और घृणा को धारण करने वाला, जीने वाला उसके जैसा कोई दूसरा नही रहता और न कोई फिर जन्मता है। इस तरह हर मृत्यु प्राप्त करने वाला व्यक्ति दुनिया को कुछ घायल, कुछ अपंग-सा बना देता है। कदाचित् इसीलिए मृत्यु के बाद मनुष्य एकदम बड़ा और किन्ही अर्थो मे अपरिहार्य लगने लगता है।

कभी-कभी ऐसा लगता है कि काल मनुष्य का शुभचिन्तक नही है, किन्तु क्या कभी-कभी ऐसा नही लगता कि काल जैसे मनुष्य का सबसे बड़ा मित्र है? यह सही है कि काल को सब कोई नही जीतते, लेकिन जो जीतने वाले होते हैं, उन्हे वह अपने प्रवाह की लहरो पर ताजा कमल की तरह तैराता-बहाता शताब्दियों के इस छोर तक पहुचा कर खुद दबे पांव और कितना चुपचाप निकल जाता है। बरस, दो बरस, दस बरस, और फिर बरस पर बरस। यों काल को जीतकर व्यक्ति दुनिया के लिए कितना अपरिहार्य हो जाता है।

मैंने रांगेय राघव का नाम आज से कोई बीस वर्ष पूर्व सुना था। उस समय हम हाड़ौती के कुछ तरुण साहित्यकार प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के लिए झालावाड़ में मिले थे और साहित्य के रूप, प्रयोजन, सामाजिक दायित्व इत्यादि विषयों पर जोशीली बहस में थककर एक ऐसी कृति की तलाश मे थे जो हमारे मन्तव्यों के अनुरूप और साहित्य की दृष्टि से श्रेष्ठ हो। तब रांगेय राघव के मित्र मनमोहन ठाकोर ने उनके काव्य-संकलन 'पिघलते पत्थर' से इसी शीर्षक वाली रचना सुनाई। कुछ तो रचना-सौष्ठव और कुछ मनमोहन ठाकोर के काव्य-पाठ ने मुझे ऐसा प्रभावित किया कि मैं लम्बे समय तक रांगेय राघव को काव्य के अतिरिक्त किसी दूसरी विधा का लेखक स्वीकार करने को तैयार नहीं

हुआ। मनमोहन ठाकोर बाद में उनके इतिहास की जानकारी, उनके उपन्यासों की ताजगी, प्रखर बुद्धि, धूम्रपान, लेखन कार्य के प्रति अपार निष्ठा के कई किस्से कहते रहे, लेकिन मेरे लिए इतना ही पर्याप्त था कि वे शक्तिशाली और दृष्टिवान् कवि हैं।

मैंने अब तक रांगेय राघव को कवि की तरह ही जाना था लेकिन थोडा समय बीतते न बीतते मैं उनको एक दूसरे रूप में भी जानने लगा। उनका यह रूप फूल की तरह कोमल न होकर वज्र की तरह कठोर था। यह आलोचक रांगेय राघव थे। उस समय डा० रामविलास शर्मा और डा० रांगेय राघव के बीच 'नवयुग' (जो आजकल धर्मयुग है) मे एक बहस छिड़ गई थी। इस बहस से मुझे रांगेय राघव ने एक नया शब्द दिया 'शाब्दिक पटेबाजी'। आज भी कई बार ऐसा प्रतीत होता है कि विद्वान् लोग 'शाब्दिक पटेबाजी' में कितना लम्बा अर्सा गुजार देते हैं जब कि समय का प्रवाह कितनी तंरगे, कितने वृत्त, कितने बुदबुद, कितने फेन बनाता-मिटाता ठीक पैरों के नीचे से चला जाता है।

फिर एक लम्बा अन्तराल। रांगेय राघव की पुस्तकों पर पुस्तकें, ख्याति पर ख्याति लेकिन साथ ही निन्दा की फुसफुसाहट, तीखी आलोचनायें। आलोचना का विषय? यही कि वे कागज तोल-तोल कर लिखते है, उनमें गहराई कम फैलाव ज्यादा है और ऐसा ही बहुत कुछ जो सामान्यतया कहा जाता है लेकिन जो लेखक के व्याप्त होते हुए प्रभाव की साक्षी देता है। यों मुझे भी कभी-कभी लगता कि अधिक मात्रा मे लिखने वाला लेखक थोडे ही समय मे प्रभावहीन रचनाओं को जन्म देने लगता है लेकिन मुझे ऐसा भी लगता कि यह मान्यता नितान्त वैयक्तिक है। वस्तुत: प्रभावशाली रचनाओं का कारण एक कृति और दूसरी कृति के बीच का समय न होकर कृतिकार की रचना-सामर्थ्य है और यदि रांगेय राघव मे वह रचना-सामर्थ्य है तो वे क्यों प्रतीक्षा करें? क्यो न वे अपनी सामर्थ्य का उपयोग करें? बहुत बाद में जब मैं एक बार उनसे मिला तो उन्होंने मुझे कई योजनायें बताते और समझाते हुए कहा कि हिन्दी के लेखक अपनी प्रतिभा के सहस्रांश का भी उपयोग नही करते। उस दिन मैंने समझा कि जिसके पास सूर्य के समान तेजस्विता है, वह समय की क्यों प्रतीक्षा करेगा? धीरे-धीरे लिखने का तर्क उन लेखकों का तर्क भी तो हो सकता है जो सामर्थ्यहीन कछुए की तरह चलते हैं और क्योंकि वे एक बार संयोगवश किसी खरगोश को लज्जित कर चुके हैं, सोचते हैं कि सभी खरगोशों के भाग्य में हमेशा-हमेशा के लिए कछुए से हारकर लज्जित होना लिखा है।

मेरे लिए इससे अधिक कष्ट का कारण क्या हो सकता था कि जिस व्यक्ति के यश की कथायें मैं बीस वर्षों से सुनता रहा उससे मिला तब जब वह तेजी से मृत्यु के निकट पहुंच रहा था, किन्तु क्या कहीं भी इस तेजस्वी व्यक्ति के दर्प को

मृत्यु आहत कर सकी ? क्या कहीं कोई पत्ता गिरा, कोई लहर उठी। कहीं कुछ भी तो नही हुआ। पहली मुलाकात मे भी वे मुझे शांत समुद्र की तरह लगे जिसके वक्ष पर बहुत कुछ आया और चला गया है। मृत्यु के कोई तीन वर्ष पूर्व उनसे मिलना हुआ लेकिन मैं यह दावा नहीं करूंगा कि मुझे उनकी अतरंगता मिली। शायद ऐसा कुछ नही हुआ क्योंकि ऐसे होने की कोई सभावना नही थी। वे यश के जिन शिखरों को छू रहे थे वहां वे बहुत ऊंचे थे। न मैं वहां मिल सकता था और न दूसरे किन्ही कारणों से उनकी अन्तरात्मा के दर्द तक पहुँच सकने की स्थिति मे था। मैंने उस पहले साक्षात्कार मे कुछ ऐसा अवश्य अनुभव किया कि जैसे वे बहुत अकेले-अकेले हैं। लेकिन अकेलापन शायद सभी लेखकों के हिस्से में आता हो।

मैं उनसे जयपुर में मिला। वे इस नगर मे आयोजित सेमीनार का सचालन कर रहे थे। जब वे पहली बार संगोष्ठी में आए तो मुझे विश्वास ही नहीं हुआ कि वे इतने तरुण, इतने सुदेह, इतने सुरुचि-सम्पन्न होंगे और जब तीन वर्ष बाद उन्हे मृत्यु उठा ले गई तो मुझे यही लगता रहा कि उस देह, उस रूप और उस गरिमा के लिए मृत्यु नही होनी चाहिए थी। संगोष्ठी मे वे भय, कुंठा और व्यग्रता रहित होकर थोड़ा-सा बोले। सामान्यतया पंडित लोग ऐसे पदो पर चढ़कर और विद्वानो को देखकर बहक जाया करते हैं लेकिन रांगेय राघव जो थे वही रहे, व्यक्त हुए। उन दिन बड़ी औपचारिक-सी बातचीत हुई, मुझे बुरा नही लगा।

संगोष्ठी के दूसरे दिन सांझ को उनसे लम्बी बातचीत हुई। कक्ष में कई व्यक्ति थे। सिगरेटों पर सिगरेटें पी जा रही थी। बहस में कुछ तनाव आ गया था। तनाव की स्थिति में बातचीत काफी रंग ले आती है। बात कवि टी०एस० इलियट तक आ गई थी। रांगेय राघव इलियट से प्रसन्न नही थे और उन्हे कुछ ऐसा बताया गया था कि मैं इलियट को काफी श्रद्धा देता हूं, इसलिए वे मुझसे भी नाखुश नजर आ रहे थे। अपनी अप्रसन्नता के दौरान उन्होने मुझ पर बार-बार यह आक्षेप किया कि मै कोई बात अपनी नही कह रहा हूं। सारी की सारी बातें बेहद किताबी हैं। वस्तुत: मैं उद्धरण बोल रहा हूं। इलियट पर उनका मुख्य आक्षेप यह था कि वह पादरी है और एक आभिजात्य विचारधारा का पक्ष समर्थक रायलिस्ट। मै उस दिन से आज तक यह नही समझ पाया हूं कि व्यक्ति के ये गैरजरूरी रूप इतनी प्रमुखता ग्रहण करके हमारी रसज्ञता को कैसे दूषित कर देते हैं? रांगेय राघव रसवादी परम्पराओं के समर्थन मे लगे रहे और नए कवियों के प्रति आक्रोश व्यक्त करने से नही हिचकिचाये। उन्होंने कहा कि नये कवि छन्द से भागते हैं क्योंकि छन्द का अनुशासन कठोर होता है। 'फ्रीवर्स' की बात करने का अधिकार उन्ही कवियों का है जो पहले कुछ कवित-सवैये लिखकर बताये। उन्होंने एक ऐसा ही वक्तव्य बाद में 'कविताएं' मासिक मे दिया था जो 1961

के सितम्बर अंक में प्रकाशित हुआ था । मैंने उनकी बात सुनकर सूचित किया कि मैं उन्ही कवियों में से हूं जिसने अपना कवि-कर्म कवित्त और सवैये लिखकर प्रारम्भ किया है और अब 'फ्रीवर्स' तक आया हूं । मुझे नही मालूम उन्हें मेरा यह कथन रुचा या नही लेकिन सांझ का झुटपुटा कमरे में दाखिल होने लगा था इसलिए वे उठ गए । उठने-उठने उन्होंने तनाव को कम करने की दृष्टि मे अपना हाथ आगे बढाया जिसे मैंने स्नेह और सम्मान से अपने हाथ में ले लिया और अपनी तरफ से उनके नजदीक आने के लिए उनसे एक सिगरेट मांग कर जलाई।

अब की बार उनसे आकाशवाणी के एक कवि-सम्मेलन मे मिलना हुआ । कवि-सम्मेलन से पूर्व औपचारिक मेल-मिलाप के बाद वे मुझे अपने भाई के यहां ले गये, पत्नी से परिचय कराया जो उस समय बी० ए० में पढ रही थी । उन्होने साहित्य अकादमी के सम्बन्ध मे बात की । मैं उस समय अकादमी का सदस्य था इसलिए उन्हे उसकी सारी गतिविधियों से अवगत करा सका । सारी बातें सुनकर उन्होंने मेरे कंधे पर हाथ रखकर कहा—"भाई, वह राजनीति की कतरन है, तुम थोडे दिनो बाद यह समझ जाओगे ।" सचमुच रांगेय राघव जो बहुत पहले समझ गये थे वह मैं बाद में समझा और जब यह समझा तो उससे अलग हो गया । दुःख यही रहा कि यह देखने के लिए रांगेय राघव जीवित नही रहे ।

# साहित्य और स्वाधीनता

साहित्य के साथ समता और स्वाधीनता जैसे मानवीय मूल्यों को जोड़ना और उनकी इस तरह बात करना जैसे वे रचना, रचना-प्रक्रिया के हिस्से हों, साहित्य-शास्त्र के लिए बिलकुल नयी बात है। साहित्य-चिंता के पिछले प्रसंगों में यश, धन, व्यवहार, विश्व-कल्याण, आनंद तथा उपदेश को साहित्य का प्रयोजन मान कर व्यापक मीमांसा की गई है। साहित्यशास्त्र की पुरानी मीमांसाएं पढ़कर ऐसा प्रतीत होने लगता है जैसे हम किसी आलीशान महल में हों, जिसके सारे दरवाजे अलौकिकता की तरफ खुलते हैं। हमारी आधुनिक साहित्य-चिंता इसी अलौकिकता से विमुख हुई जा रही है। प्रीस्टले ने 'लिटरेचर ऐंड वेस्टर्न मैन' में अलौकिकता और धर्म-निष्ठा के प्रति नाराजगी-युक्त टिप्पणी करते हुए लिखा है—"मेरे विचार मे वे गलत हैं। यदि उनके लिए कोई विश्वास या चर्च अथवा कोई धर्म हितकर हो तो ठीक है, उनके निजी विश्वास को लेकर मैं विवाद नहीं करता, लेकिन न कोई मेरा धर्म है और न मेरे अधिकांश मित्रों का। मेरे विवेच्य प्रमुख आधुनिक लेखकों में बहुत कम के पास कोई धर्म है; जो निश्चित है वह यह है कि हमारे समाज के पास कोई धर्म नही है। अब वह केवल अधार्मिक ही नहीं, बल्कि प्रबल धर्मविरोधी है।"

धर्म की कट्टरता, अमानवीयता और नियतिवादी संदर्भों के विरोध में खड़े होकर ही हमने समता और स्वाधीनता के मानववादी मूल्यों की तलाश की है और इसी अर्थ में हम परंपराविरोधी भी होते हैं। हमने यह चुना है कि हम अपने जीवन का अर्थ यहीं अपनी पृथ्वी पर तलाश करेंगे। आदमी ही हमारी सारी जिज्ञासाओं का केन्द्र होगा। हमारी सुदीर्घ परंपरा ने जिस वैराग्य-साधना और मोक्ष, जन्मांतरवाद और प्रारब्ध को स्वीकार किया है वह मनुष्य की समता और स्वाधीनता का निषेध है। यह मानने में किसी को आपत्ति नही है कि इन्ही कट्टर धर्म-प्रसंगों के बीच कई बार वे शक्तिशाली आंदोलन भी आए, जिन्होंने मनुष्य की गरिमा को पुनः प्रतिष्ठित करने की कोशिश की और एक उदारवादी धर्म-परंपरा चलाने का संकल्प आचरित किया, लेकिन जल्दी ही वे लोग निहित

स्वार्थों के घेरेबंदी में आ गए। उनकी आवाज एक नैतिक संबोध भर हुई; वे व्यवस्था की असंगतियों, गैरबराबरियों, पराधीनताओं को नष्ट करने के लिए कोई वैकल्पिक व्यवस्था का मसविदा तैयार नही कर सके। इसमें कोई संदेह नही कि इन लोगों ने मनुष्यों को अंध-नियति से निकालने की परंपरा की तलाश की; यह बात दूसरी है कि वे बहुत दूर तक नही चल पाए।

## वंध्या व्यवस्था का सुरक्षा-अस्त्र

धर्म की पुरानी परंपराओं को स्वीकार करने, उन्हे पुनर्जीवित करने, या कि उनकी पुनरंचना करने का आवेश अब भी कम नही है। जातियों का दर्प, वैयक्तिक संपदा की सुरक्षा, स्त्री को छोटी और शोषण की सारी स्थितियों में रख कर सामंती दर्प का अहसास, मेहनत करने वाले लोगों को छोटी हैसियत देकर जुल्म करने की इच्छा, जीवन को अर्थ देने वाली सारी सुविधाओं को मुट्ठी मे रखने की प्राणांत कोशिश, सांप्रदायिक तनावों को जातीय परंपरा की संकीर्ण विरासत के साथ जोड़कर खुशनुमा बनाने की इच्छा पुरानी और सत्त्वहीन परम्परा को लौटा लाने के सिलसिले में है। साहित्य के जरिये इन परम्पराओं की वापसी मायावी और मोहक रूप मे होती है—कभी संस्कृति बचाओ के रूप में, कभी देश, धर्म और परम्परा बचाओ के रूप में, कभी बरास्ता रहस्य-रोमांच और पुनर्जन्म की कथाओं, कभी भूत-प्रेत, परा-मनोविज्ञान की अविश्वसनीय कहानियो के द्वारा। कभी बहुत बड़े-बडे पुरस्कारों के रास्ते, जिनका धर्म से या अनुत्पादक आस्थाओं से घनिष्ठ संबंध होता है। चिंता की बात यह है कि आधुनिक दुनिया का एक हिस्सा मन से अब भी अतीतोन्मुखी है और उसके हाथ मे तिजारत के वे सब माध्यम और संचार के साधन आ गए है, जिससे वह समता और स्वाधीनतावादी शक्तियों को शिकस्त दे सके। साहित्य का इस्तेमाल भी वह इस वध्या व्यवस्था को स्थायी बनाने के काम में खुल कर करता है।

इस संदर्भ की कतिपय कठिनाइयो का जिक्र आवश्यक है, क्योकि वे प्रायः ही उन जागरूक साहित्यकारों के सामने आती हैं जो धार्मिक आवेशों से बचना चाहते हैं और इस प्रयत्न मे होते है कि साहित्य मानव-आस्था से कटकर किसी प्रकार की संकीर्णताओं में विलीन न हो जाए। हमारी पहली कठिनाई यह होती है कि हमारे पास जो मिथकों की दुनिया है उसका संबंध उस धर्म की दुनिया से है जो प्राय: मानवीय कामनाओं को विभाजित करती रही है और जिसके कारण जातियां बनी हैं, ब्राह्मण, शूद्रों की परम्पराएं बनी हैं, कर्म, प्रारब्ध जन्मान्तरवाद के अतार्किक भय स्थापित हुए हैं, गुलाम-अमीर, पतित-पावन, दास-स्वामी की अनैतिक रिश्तेदारी कायम हुई है। इन मिथको की लंबी और जबरदस्त परंपरा है। इनके स्वरूप जब तक मानवीय और तर्कसगत नही बनते तब तक उनकी कट्टरता

नही बदलती और ज्योंही हम उन्हे तर्कसंगति देते हैं वे प्रसंग-च्युत हो जाते हैं और उनकी मिथकीय शक्ति का नुकसान होने लगता है।

उदाहरण के लिए एक लम्बी कविता में गुजरात के किसी कवि ने द्रौपदी के वस्त्र-हरण को एक फ्रायडीयन स्पर्श दिया था। उन्होंने लिखा था कि सभा में बैठे वृद्ध-जन द्रौपदी का वस्त्रहरण इसलिए देखते रहे, क्योंकि उनके मन में कहीं-न-कहीं गोपन सेक्स-भाव, स्त्री-देह को निर्वस्त्र देखने का भाव मौजूद था। सभासदों मे बहुत-से वृद्ध थे, भीष्म जिन पर बाद मे द्रौपदी कुपित हुई थीं और पूछती रही थी कि आप तो धर्मज्ञ थे, वीर थे, नीतिज्ञ थे, आप कैसे देखते रहे? इस सबके लिए कवि का कहना था कि वे ही तो सबसे ज्यादा भूखे थे, क्योंकि अविवाहित थे। तर्क-दृष्टि से महाभारत के एक प्रसंग की यह व्याख्या संभव है। लेकिन उसकी लोक-विश्वसनीयता और स्वीकृति संदेहास्पद है। ऐसे और अनेक मिथकों का मानवीकरण हो सकता है। नरेन्द्र कोहली ने अपने उपन्यासों में मिथकों का मानवीकरण किया है, लेकिन सबसे बड़ा और महत्त्वपूर्ण प्रश्न जो श्रोता उनसे एक सभा में पूछते रहे, वह यह था कि राम ही कहां है! राम का जो रूप जनचित्त में स्थापित है उसे विस्थापित करने की कोशिशें बहुत मुश्किल हैं। अयोध्यासिंह उपाध्याय ने राधा-कृष्ण के रक्तसिक्त कथा-प्रसंग को 'प्रिय-प्रवास' मे बदलने की मेहनत की। कृष्ण को लोकनायक बनाया भी; लेकिन पूर्ण पुरुषोत्तम रसेश्वर कृष्ण को वे मर्यादा-पुरुषोत्तम राम नही बना सके। फिर भी मिथकों को ज्यादा से ज्यादा मानवीय बनाने के प्रयत्न लाभकारी होंगे।

इस प्रसंग को मैं निहाररंजन रे के एक कथन से समाप्त करूंगा। लिखा है—आवश्यकता इस बात की है कि पुराने मिथकों को नये और परिवर्तित संदर्भों में व्याख्यायित किया जाए और ऐसे नये मिथक तैयार किये जाएं, जो प्रादेशिक, सामाजिक, भाषाई सीमाओं का अतिक्रमण कर संपूर्ण भारत की आधुनिक मान-सिकता का प्रतिबिंबन कर सकें। यह सरल बात नही है, लेकिन भारतीय साहित्य को अपना व्यक्तित्व प्रदान करने के लिए अत्यावश्यक है।

## नयी समीक्षा, पुराने औजार

मेरी दृष्टि मे नये मूल्यो के आधार पर लिखे जाने वाले साहित्य की दूसरी कठिनाई उसके जांच-पड़ताल की है। साहित्यशास्त्र के पास जांच के जो औजार हैं वे प्राचीन, धार्मिक समाजशास्त्रीय प्रसंगों से जुड़े है, जैसे वाक्, रस, अलौकिक अनिर्वचनीय, लोकोत्तर आनंद, साधारणीकरण, ध्वनि आदि शब्दो को निरंतर काम में लेते हुए हमने जो समीक्षाशास्त्र बुना है वह हमारे आधुनिक अनुभवों को सिर्फ मानवीय स्थितियां (ह्यूमन सिचुएशंस) कह कर टाल जाता है—शाश्वत और कालातीत साहित्य लिखने की इच्छा हमारे अंदर तिलमिलाती रह जाती

है। दिक्कत यह भी है कि जिस नये साहित्य और सौन्दर्यशास्त्र का जन्म हो रहा है, उसमे भारतीय मनीषा का ज्यादा योगदान नही है। इसलिए यह कहना मुश्किल है कि उसे हमारी स्वीकृति मिलेगी अथवा नही। यदि एक देश की जल-वायु, वन-वनस्पति, जीवन और मिट्टी, जमीन और जल कही भी भिन्न और विशिष्ट है, तो उसका साहित्य और समीक्षाशास्त्र भिन्न और अलग पहचानवाला होगा। इधर इस अपेक्षा को भी बार-बार कहा जा रहा है कि साहित्य की समीक्षा के लिए समाजशास्त्रीय मूल्य एकदम न सही, लेकिन काफी अलग पड़ जाते है, इसलिए वहां भी विवेक और परिशोधन की आवश्यकता है।

सारी दिक्कतों के बावजूद यह तो हुआ है कि हम अपने आसपास और नजदीक के संसार से जुड़ गए हैं और अब रवीन्द्रनाथ की तरह हम यह नही कह सकते कि नदी के प्रवाह का अपना सौंदर्य है, यह बात दूसरी है कि उससे कभी किसी की प्यास बुझ जाती है या किसी को एक बाल्टी जल मिल जाता है या कि जैसे आयनेस्को ने कहा था "शायद लेखक का उद्देश्य केवल एक किस्म की इमारत बनाना है, जो साहित्यिक या रंगमंचीय नियमों को समाहित या प्रदर्शित करती है और ठोस अभिव्यक्ति देती है। एक अप्रयुक्त चर्च, जो अब एक पूजा-स्थान नही है, एक अस्पताल या पूजा-स्थान बन सकता है। लेकिन है यह अब भी अपने में एक भवन, चर्च नही, वास्तुकला का एक अंग। वस्तुत: यह कभी चर्च था भी नही, इसका चर्च के लिए सिर्फ उपयोग किया गया था, इसी तरह एक नाट्यकृति का प्रयोग अस्थायी तौर पर प्रचार या शिक्षा अथवा राजनीतिक दीक्षा के लिए किया जा सकता है। वे शक्तियां, जो इसका उपयोग अपनी इच्छानुसार करती है, इसे एक जीवंत रचना, एक निर्मित कृति होने से नही रोक सकती।"

## बदलाव की धीमी प्रक्रिया

सार्त्र का उत्तर इसके विपरीत है। "लेखक वह चाहे या न चाहे एक ऐसा मनुष्य है, जो लोगों के बीच के अपरिभाषेय संबंधों को प्रेम और घृणा के नाम देता है, जो सामाजिक संबंधों को अत्याचार और बन्धुत्व की संज्ञा देता है। मैं कहता हूं कि लेखक यदि दुनिया के किसी पहलू पर चुप रहता है तो वह चाहे या न चाहे भाषा के संसार मे संबद्ध मौन भी शब्द होता है। हमें पूछने का अधिकार है, तुम उस विषय की तुलना में इस पर क्यों बोले और क्योंकि तुम एक परिवर्तन के लिए बोलते हो, उस परिवर्तन की अपेक्षा यह बदलाव क्यों चाहते हो? तुम डाक-टिकट बनाने के तरीके को क्यों बदलना चाहते हो बजाये गैर-यहूदी मुल्क में यहूदियों के प्रति व्यवहार बदलने के। इसलिए उसे उत्तर देना ही होगा—हम क्या बदलना चाहते हैं" (दोनों उद्धरण—'मानववाद तथा साहित्य' से—डॉ. नवल किशोर)

दरअसल बदलाव की प्रक्रिया मे जो कुछ हुआ है वह इतना अपर्याप्त, इतना धीमे-धीमे, हुआ है कि बदलाव के विकल्पों पर सारी बहस शिविरबद्ध और राजनीतिक जिद बन गई है। यही बात साहित्य के सबंध में हुई है। हम जो साहित्य को बदलाव की इच्छाओं से संयुक्त देखना चाहते हैं, वे इस तरह बांध दिए गए है या उत्तर देने के लिए विवश कर दिए गए हैं कि जैसे पूर्व निर्धारित उत्तरों या विकल्पो के सिवा हमारे पास कुछ नही है। सार्त्र ने 'साहित्य क्या है?' (ह्वाट इज लिटरेचर?) *की भूमिका मे एक संक्षिप्त, किंतु व्यंग्यात्मक टिप्पणी* करते हुए लिखा है कि—"एक युवा किंतु अल्प अनुभव वाले लेखक ने लिखा कि यदि प्रतिबद्ध होना चाहते हो तो किसकी प्रतीक्षा कर रहे हो, कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य बन जाओ। अमरीकी पत्रकार ने कहा—तुम्हारे साथ दिक्कत यह है कि तुमने न तो बर्गसा पढ़ा है न फ्रायड और फ्लाबेयर जिसने हमेशा स्वतंत्र लेखन किया—तुम्हारी आत्मा पर पश्चात्ताप की तरह छाया हुआ हैं। एक लेखक जो एक युद्ध से दूसरे युद्ध तक जिया और जिसके नाम के साथ बहुत-सी यादें जुड़ी हैं कहने लगा, तुम्हारे साथ यही तो दुख है कि तुमने अमरत्व की कभी चिंता नही की'''वगैरा'''वगैरा।"

## क्रांति का रूमानीकरण

ये सब स्थितियां साहित्य के साथ एक दहशत की स्थिति मे जुड़ गयी हैं और बहस का मुद्दा सिर्फ यह रह गया है कि हम या तो अमरीकी लॉबी के साथ या रूसी-चीनी खेमे के लेखक होने के लिए अभिशप्त हैं। इतना हो तो भी गनीमत है, अब प्रतिबद्धताए व्यक्ति-केंद्रित होती चली जा रही हैं और डर उनको भी लगने लगा है जो किसी भी पार्टी के लेखक है; क्योकि उनके साहित्य की गुणवत्ता की पहचान करते समय उन पर, उनके साहित्य पर वे सब लांछन लगाये जाते हैं जो उनकी कृति या कृतियों मे परिलक्षित नही होते, बल्कि उनकी राजनीतिक समझ या वैचारिकी मे होते हैं। यह विग्रह और संकीर्णता हमारे जैसे लेखको मे ज्यादा नजर आने लगी है, जो क्रांति को निकट भविष्य मे हवा की तरह बहता देखते हैं और रूमानियत के अंदाज में लिखते हैं। इसे हम क्राति का रूमानीकरण कह सकते हैं। मनुष्य नियति को ज्यादा सार्थक और अर्थवान बनाने की पहल करनेवाले लेखक आपस में इतने क्रुद्ध और हृदयहीन नजर आते हैं कि जैसे वे एक-दूसरे को पकड़ कर पीछे खीच रहे हों। ये प्रसंग हिंदी की प्रगतिशील, प्रगतिवादी जनवादी, नवजनवादी साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं मे स्वच्छंदतापूर्वक छापे जाते हैं। उन्हें यहां विस्तार से उद्धृत करने का अर्थ एक राजनीतिक उत्साह का *अतिरेक होगा और उस अनास्था का फैलाना भी होगा, जो अवांछनीय है।* दरअसल एक पूंजीवादी, कंचन-लोभी, उपभोगवादी, और बंगला कथाकार शंकर

के शब्दों में, पराश्रित परोपजीवी, पैरासाइटों की दुनिया को बदलने के लिए व्यापक मानवीय मूल्यों से जुड़े रहने वाले 'स्वाधीन चित्त-मनवाले' लेखकों के बीच संपूर्ण लगाव की आवश्यकता है।

मैंने जान-बूझ कर 'स्वाधीन चित्त-मन' जैसा मुहावरा काम में लाया लिया है, जो किसी नैतिक संबोध अथवा तबीयतों को मुलायम बनानेवाले मुहावरे से भिन्न है। पिछले वर्षों में 'स्वाधीनता' शब्द से समाजवादी सिद्धांतों के प्रति आग्रहशील साहित्यकारों ने घृणा व्यक्त न भी की हो, पर खासी नाराजी जाहिर की है। इस नाराजी का कारण यह है कि 'स्वाधीनता' शब्द प्रतिस्पर्धी पूंजीवादी समाज का है, जिसका अर्थ साहित्य में कला-रूपों की अमूर्त कारीगरी या कि शब्दो के वायवी, लयात्मक उद्देश्यहीन रचनाओं तक सीमित होता है। इसमे कोई संदेह नही कि स्वाधीनता के आग्रहों के साथ ये खतरे जुड़े हो। लेकिन साहित्यकार के 'स्वाधीन' न होने के खतरे भी कुछ कम नही हैं। इन दिनों 'स्वाधीनता' के साथ सत्ता और व्यवस्था की टकराहट का बहुत गुप्त भयावह और विस्मयकारी खेल चला है, जिसे देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे समता और संभाव्य बराबरी के लिए किसी जटिल वैचारिकी की आवश्यकता नही है। उसी तरह स्वाधीनता के पक्ष का समर्थन करने के लिए किसी संशय, तनाव और भय की आवश्यकता नहीं है।

किसी भी दृष्टि से देखें तो स्वाधीनता कृति या सर्जन का प्रतिपक्ष नही हैं, वह कृति का निषेध नही है। पुराने या नये इतिहास में जहां कट्टरता है और स्वाधीनता का निषेध है वहां कला और साहित्य के फैलाव का रास्ता बद है। स्वाधीनता के समय या स्वाधीनता की मांग करते समय रचनात्मक ऊर्जा का जो आवेश देखा जाता है वह इतिहास-चक्र की गति को बदल देता है। जब मैं इस दृष्टि से देखता हूं, तो मुझे प्रतीत होता है कि भक्त और संत कवियों की रचना मे जो सर्जनात्मक ऊर्जा का आवेश है वह एक बृहत्तर स्वाधीनता के आवेश का हिस्सा है। छोटी जाति के कवियों ने रचना करते समय जाति हीनता से मुक्ति हासिल की और वे सामाजिक स्वाधीनता के व्यापक और मानवीय पक्षों का स्पर्श कर सके। सामाजिक समता और स्वाधीनता का यह अहसास किन्ही समाजवादी पुस्तकों को पढने और वर्ग संघर्ष की अनुभूति से नही, बल्कि संवेदनशील मन और साहित्य रचना के आवेश से पैदा हुआ था। स्वाधीनता की उस बृहत्तर इच्छा से असंपृक्त होते ही सामंती आचरण की रूढ कविताएं उक्ति-वैचित्र्य और अलंकारों से सज गयी। जीवन की चमकती-दमकती इच्छाओ की झलक तक विलुप्त हो गई और उसी अनुपात मे उनकी साहित्यिक अर्थवत्ता घट गई।

दरअसल स्वाधीनता और साहित्य का आत्मीय रिश्ता है, जैसे स्वाधीनता के बीज से अर्थवान रचनाओ का प्रतिफलन होता है, उसी तरह साहित्य, रचना

का एक निहितार्थ स्वाधीनता है। श्रेष्ठ साहित्य-रचनाओं के बीचोबीच एक स्वाधीनता की चमकती आंख नजर आती है। इसी चमकती आंख से दुनिया की दुखदायी व्यवस्था और मनुष्य भाग्य की त्रासदी देखी जा सकती है, जिसे बदलने के लिए मुक्तिबोध की इन पक्तियों में पढा जा सकता है।

अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे
उठाने ही होंगे
तोडने होंगे ही मठ गढ, अब
पहुचना होगा दुर्गम पहाड़ों के उस पार
तब कही देखने को मिलेंगी बांहें
जिनमें कि प्रति पल कांपता रहता
अरुण कमल एक।

सवाल यह है कि इस 'अरुण कमल' को कौन नही खिलने देता है? दुनिया को बेहतरीन बनाने से कौन रोकता है? वे कौन-सी शक्तियां है, जो दुनिया के बदलाव को रोकती है?—बहुत-सी हैं। इनमें सबसे प्रचंड शक्ति राज्य-सत्ता की है। प्राय ही राज्य-सत्ताए स्वाधीनता का प्रतिपक्ष होती हैं और इसलिए साहित्य से कमोबेश आतकित रहती हैं। मैं शैली की बात नही करता, जिसने किसी समय रचनाकर्मी को 'अनक्नाउंड लेजिस्लेटर' कहा था, न मैं यह कहता हू कि वह कोई समानातर सरकार होती हैं, लेकिन मुझे यह लगता है कि राज्य-सत्ता और साहित्यकार का रिश्ता तनावपूर्ण होता है, क्योंकि सत्ता की दिलचस्पी जब स्वाधीनता के अपहरण की होती है, साहित्यकर्मी उसे स्वाधीनता की, सत्य की, समता की तथा और-और मानवीय मूल्यों की याद दिलाता रहता है।

## नहीं तो मनुष्य के पास क्या बचेगा?

इस प्रसंग में यह तथ्य रेखाकित किया जाना चाहिए कि समता और स्वाधीनता मनुष्य नियति के खंडित पक्ष नहीं है, यद्यपि यह विचित्र विडंबना है कि इनमें से एक पर अमूमन बल दिया जाता है। ऐसी प्रतीति कराई जाती है कि समता के लिए स्वाधीनता और स्वाधीनता के लिए समता का स्थगन आवश्यक है। हर समय के लिए न सही, कुछ समय के लिए। अत मे यह होता है कि कुछ समय का स्थगन जल्दी ही समाप्त नही होता और इस बीच नयी और भयावह स्थितियों का आतंक फैला दिया जाता है। स्वाधीनता के संबध में यह संशय हमेशा फैलाया गया है कि वह कोई निजी बेहद आंतरिक और आदमी का अपना ही मामला है। इस तरह समता के संबध मे जो भावुक पक्ष नही है, स्वाधीनता के संबंध में एक लचीला और भावुक प्रसग होता है। लेकिन साहित्य-कार किसी एक या दूसरे कारण से और अकसर एक बडी विस्तृत बाधारहित

दुनिया का सपना देखने के कारण, स्वाधीनता का पक्षधर और सत्ता-प्रतिष्ठानो के निहित स्वार्थों की पहचान कराता, व्यवस्था और सत्ता का विरोध-पक्ष होता है, अन्यथा उसकी कोई भूमिका ही नही रहती। मैं सोचता हूं कि आज की सत्ताओं के मिजाज और आतंक शस्त्र-बल और नियोजन-कर्म की उन्मादकारी भूख को देखते हुए स्वाधीनता की मांग बहुत आवश्यक है। नही तो मनुष्य के पास बच ही क्या गया है?

## स्वाधीनता : अलंकरण नहीं, अनिवार्यता

साहित्य के लिए स्वाधीनता का पक्ष कोई बचाव की दलील नही है। वह कोई अलंकरण नही है, दरअसल वह त्वचा ही है, क्योकि उसी में से यानी स्वाधीनता के बीच से ही अभिव्यक्ति की, संप्रेषण की या कि अनेक आयामी सृष्टि बनाने की बात निकलती है। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अर्थ मेरे लिए अपने पास के उपयोगी औजार के इस्तेमाल का है। सृष्टि रचना के लिए कारीगरो के पास जो हजारों औजार है और जो हजारो तकनीके है, वे इस्तेमाल की है; वही बात अभिव्यक्ति के सिलसिले में है। हजारों तकनीके हैं अभिव्यक्त होने की क्योकि मनुष्य के पास स्वाधीनता है; सृष्टि को देखने की स्वाधीनता, उसमे लय होने की स्वाधीनता, उसे अभिव्यक्त करने की स्वाधीनता, उसे नया बनाने, उससे मुक्त होने, उसमे विलय होने की स्वाधीनता। इस स्वाधीनता के रहते ही तो अभिव्यक्ति के औजार के उपयोग की बात होती है। झगडा यही से शुरू होता है। राजनीति भी यहीं से शुरू होती है। स्वाधीनता के अपहरण की बात भी यहीं से शुरू होती है। अभिव्यक्ति की स्वाधीनता के सवाल पर किसी का विमत नही है, लेकिन दबाव इस बात का है कि अभिव्यक्ति किसकी? उस दुनिया और सत्य और यथार्थ की जो सहज है, नजर आ रहा है या उस दुनिया, सत्य और यथार्थ की, जो आरोपित है और राजनीतिक कारणो से सब कहीं उपस्थित किया जा रहा है? मैं यही फिर उस सत्ता की बात करता हूं, जो मनुष्य और दुनिया के बीच तीसरी शक्ति के रूप मे उपस्थित है। सिर्फ मनुष्य और दुनिया के बीच ही नही, लेकिन मनुष्य के चित्त-विभाजन मे द्विधा उत्पन्न करने मे, यथार्थ के हजारों टुकड़े करने और हर टुकडे को संपूर्ण सत्य बना कर दिखाने के हुनर मे बहुत कुशल है। वह सत्ता सिर्फ शस्त्र-बल के कारण ही अपराजेय नही है, लेकिन वह मनुष्य की सारी श्रेष्ठ इच्छाओ की ऐसी तिजारत करती है कि उसका विरोध करते समय मनुष्य स्वय मे विभक्त होता रहता है और शक्तिशाली प्रचार-साधनों के सामने स्वयं को असहाय पाता है। साहित्यकार भी अपनी अभिव्यक्ति स्वतंत्रता को यही खोता है या नियंत्रित करता है और क्योकि राज्य-सत्ता, इसे, अन्न, जल, रोशनी, नौकरी, न्याय, दड

सामाजिक मान-सम्मान, मैत्री-शत्रुता; एक नियोजित कार्यक्रम के अनुसार सब कुछ देती है —देश और देश-निष्कासन देती है। वह एकदम निरीह होता है और एक ऐसी सृष्टि करता है जो न केवल एक आयामी होती है, बल्कि मारक और अवास्तविक होती है।

## सत्ता का अंतर्विरोधी और अवसरवादी चरित्र

पिछला इतिहास देखें तो पायेंगे कि सत्ता प्रायः ही और लगभग सभी दिशाओं और क्षेत्रों में सांस्कृतिक, साहित्यिक, मनोरंजन, खेल, विनोद-गोष्ठियों, शिक्षा-प्रतिष्ठानों आदि-आदि मे एक सुनियोजित दिलचस्पी लेती हुई बढ़ी है। यह दिलचस्पी बस यूं ही टहलते-टहलते मिल चलें जैसी नही होती, बल्कि अपने प्रभामंडल और रुतबे के विस्तार की होती है और हम पाते हैं कि वहां एक दफ्तर आ जाता है और सब जानते हैं कि वह बाद में एक निष्क्रियता की जगह होती है, लेकिन एक दखलंदाजी की जगह भी होती है, जहां आस-पास का संसार अपनी छोटी-छोटी स्वाधीनताएं खोकर विपन्न होता है।

यह दलील दी जाती है कि पूंजीवादी सरकारें प्रायः मनुष्य का आर्थिक शोषण करती हुई उसकी सारी स्वाधीनता का अप्रत्यक्ष हरण करती हैं और मुझे इस दलील और दृष्टि को स्वीकार करने मे कोई एतराज नही है। सत्य यही है कि पूंजीवादी सरकारें स्वाधीनता का केवल नाटक करती हैं। तब हमारे पास, खास तौर पर स्वप्नद्रष्टा साहित्यकार के पास, समाजवादी-साम्यवादी सत्ताओं से यह उम्मीद बनती है कि वे आर्थिक समताओं के महान उपक्रमों मे से स्वाधीनता की सारी स्थितिया बहाल कर देंगी। लेकिन सत्ता का अंतर्विरोधी और अवसर-वादी चरित्र वहां भी कमजोर और डरपोक बना रहता है। मनुष्य की छोटी-छोटी स्वाधीनताए वहां भी बहाल नही होती। इससे रचना का काम रुकता हो या कि महान रचनाएं न लिखी जाती हों, यह मैं नही कहता। दरअसल रचना-लेखन का काम कभी स्थगित नही होता, न हुआ। महान रचनाओं के संबंध में भी यह कहना ठीक लगता है कि वे बहुत-सी प्रतिकूल और अवांछित, अप्रीतिकर और अमानवीय स्थितियों मे भी लिखी गई हैं। तब भी साहित्य के लिए स्वाधीनता की जरूरत बनी रहती है, क्योंकि ऐसे मे एक मानवीय और भय-रहित मन विकसित होता है और बर्बर तथा क्रूर स्थितियों और उनके कारणों का जायजा लिया जा सकता है।

## पराधीनता की सूक्ष्म प्रक्रियाएं

जिस दुनिया में हम जी रहे हैं उसमे स्वाधीनता कोई 'कॉस्मेटिक्स' की तरह नहीं है, बल्कि स्थितियों की द्वंद्वात्मकता से जनमी एक अनिवार्यता है। जब उसकी

आवश्यकता की बात साहित्य के संबंध में की जाती है, तो उसका अर्थ यह है कि वह एक मानवीय जरूरत है। यह तथ्य स्पष्ट है कि साहित्य को मानवीय वातावरण से अलग कर के उसकी चिंता नहीं की जा सकती। इसी संदर्भ मे यह तथ्य भी कहा जाना चाहिए कि पराधीनताओं को फैलाने की प्रक्रिया इतनी सूक्ष्म, इतनी बारीक और उलझन-भरी हो गई है कि सामान्यजनों और उनके संगठनों के पास सावधानी के सिवा कोई विकल्प नहीं बना है। राज्य-सत्ता और उसके साथ संचार-साधनों की सेवाएं, प्रलोभन और आतंक, पुलिस और फौज और, दूसरी कानूनी स्थितियां इतनी सुदृढ़ हैं कि उसका प्रतिकार असंभव है। मुझे लगता है कि किसी व्यक्ति के निर्द्वंद्व आचरण की हम प्रायः चिंता करते हैं, अराजकता की कल्पना से भयभीत होते है और नियत्रित करने के लिए एक व्यवस्था को पुख्ता बनाने की दिशा में सोचते हैं। यह स्थिति बदल गई है। अब तो वह व्यवस्था इतनी चालाक, निरंकुश, लालची और शक्ति-संपन्न हो गई है कि व्यक्ति को फिर से उसकी हैसियत का स्मरण दिलाने के लिए बहुत-से प्रयत्न, बहुत-सा साहित्य लिखना पडेगा।

साहित्य और स्वाधीनता की बात करते हुए मैं किसी व्यक्ति, स्वेच्छाचार, अतिवाद, अराजकतावाद की बात नहीं करता हूं। मैं सिर्फ उस बदलते हुए सामयिक संदर्भों की ओर संकेत करता हूं जिनके चलते सारी राज्य-सत्ताए चाहे वे पूंजीवादी हों या साम्यवादी, एक या दूसरे तर्क को अपने समर्थन मे करती हुई ऐसी व्यवस्थाओ को जन्म देंगी, जिनसे मुक्ति दिलानेवाला कोई नही होगा और हम भी ऐसी मनःस्थिति मे होंगे—कि उनसे मुक्ति ही न मांगे। साहित्य-कर्म ऐसी स्थितियों मे हमें शायद अप्रासंगिक ही लगने लगे—जैसे इस समय भी बहुतों को लगने लगा है।

अब हम साहित्य और स्वाधीनता के रिश्ते की कुछ ठोस और मूर्त प्रसंगों मे जांच करेंगे और समसामयिक संदर्भों की अधिक आत्मीयता से बात करेंगे, जिससे लेखकीय स्वाधीनता का परिदृश्य उतना धुंधला न रहे जितना सैद्धांतिक चर्चा के समय लगता रहा है।

दरअसल भारतीय साहित्यिक परिदृश्य में 'स्वाधीनता' शब्द एकदम नया और शायद चौका देने वाला है। हमारी दृष्टि में अब तक 'मुक्ति' ही मनुष्य के जन्म-मरण का सर्वोच्च पुरुषार्थ है। इससे श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। मुक्ति जन्म-मरण से मुक्त करती है लेकिन जन्म के साथ लगी त्रासद स्थितियों के साथ जीने और जीते-जीते उनसे संघर्ष करने का विवेक या कोई रास्ता नहीं निकालती। और इसलिए हमारा सारा पुराना साहित्य उस विवेक से रहित है जो स्वाधीन होने की बुनियादी शर्त है। पुनर्जन्म, प्रारब्ध और परलोक के आस्था-मूलक रहस्यीकरणों, बने-बनाये मूल्यों और नैतिक पूर्वग्रहों के सारे बोझ को लेकर लिखे गये संस्कृत

साहित्य में मानवीय स्थितियों की भयावहता का विवेकपूर्ण और आत्मीय वर्णन ज्यादा नहीं मिलता। भवभूति जैसे कवि ही कुछ साहस के साथ राम की कट्टरता पर टीका-टिप्पणी करते हैं, अन्यथा मनुष्य रहते दुख-सुख का भोग किसी की चिन्ता का विषय नहीं है। इसलिए उससे मुक्त होने की कोई इच्छा वहां नजर नहीं आती। इस परिस्थिति का जायजा लेते हुए 'शब्द और स्मृति' में एक जगह निर्मल वर्मा ने लिखा है—"हमारे देश में साहित्य ऐसी संकोचजनक स्थिति में है, एक भीड़-भरे कमरे में घुसने की स्थिति में, जहां उसके लिए कोई जगह नहीं है और उसे या तो धर्म या समाजशास्त्र या हमारी रूढ़ नैतिकता के साथ बारी-बारी से उनकी सेवा करते हुए, आधी कुर्सी पर बैठना होता है।"

स्वाधीनता विवेक का ही आयाम है। इस बात का विवेक कि हमारी जिंदगी के साथ जो स्थितियां जुड़ी हैं—आर्थिक हों, राजनीतिक हो, सामाजिक हों या तकनीकी या अजनबीपन अलगाव की—जिनके कारण जीना सिर्फ दहशत ही नहीं बल्कि एक लंबा पश्चात्ताप, एक नर्क हो, उन सबके कारण हैं और हम उनके संबंध में निर्णय ले सकते हैं। और क्योंकि निर्णय ले सकते हैं इसलिए एक अंश में उनकी अधीनता से मुक्ति संभव है। यह बोध हमें चाहे पश्चिम की विज्ञान-सरणियों से मिला हो, चाहे सामंतवाद की टकराहट के लिए पूंजीवादी फैलाव से या हमारी ही अपनी अस्तित्व के लिए जनमी जिजीविषा की द्वंद्वात्मकता से, हमारा हो गया है। हमारी शताब्दी के संघर्ष का जब कभी भी जायजा लिया जाता है, तब हम उसे समता और स्वाधीनता के नाम से अभिहित करते हैं।

## स्वाधीनता की सुगबुगाहट

स्वाधीनता का अहसास स्थूल और सूक्ष्म, संश्लिष्ट और सरलीकृत या इनके बीच के कई कंपनों से गुजर सकता है। अंग्रेजों से हमारी जो टकराहट रही, एक लंबा स्वातंत्र्य-संघर्ष चला, उसका साहित्य-प्रसंग हमारा सबका जाना-पहचाना है। उस साहित्य के तेज, उसके ताप, रचनाशीलता, उन्मेषकारी शक्ति जो जहां से प्राप्त हुई वह स्वाधीन होने की इच्छा का परिणाम था। उस समय का लिखा साहित्य इस बात का गवाह है कि स्वाधीन होने की इच्छा में रचनाशीलता के कैसे-कैसे आग्रह छिपे रहते हैं। उस समय से पहले हम नहीं जानते थे कि अभिव्यक्ति के क्या-क्या खतरे हो सकते हैं। पूर्व के साहित्य-इतिहास में यह याद करना कठिन है कि किसी को राज्यतंत्र के विरुद्ध लिखी कविता-कहानी, किसी विवरण, किसी अग्रलेख के लिए जेल भेज दिया गया हो। किसी पुस्तक का जब्त कर लिया जाना, किसी लेख को प्रकाशन के पूर्व स्थगित कर देना, किसी सभा में किसी को भाषण न करने देना, सभा न होने देना, ये सब अनुभव हमारे अपने नहीं थे। ये बिलकुल नई समस्या के, आधुनिक थे और स्वाधीन होने के लिए

बेचैन लोग फिर भी उत्तेजनात्मक साहित्य लिख रहे थे। स्वाधीन होने के उनक्रम में लिखा यह साहित्य एक वृहत् मानवीय इच्छा की साझेदारी थी, इसलिए हजारों कविताओं, कहानियों उपन्यासों में अभिव्यक्त होकर भी वह थकाती नहीं थी। इस समय का हमारा साहित्य स्वाधीनता के साथ हमारी आत्मीय रिश्तेदारी का प्रमाण है, उसके लिए लेखकों का यातना सहना, जेल जाना और नेहरू जी के शब्दों मे 'लिव डेंजरसली' के आह्वान को सुनना सिर्फ इतिहास के आवेशपूर्ण क्षणों से गुजरना या राज्यतंत्र को बदलने की इच्छा मात्र नहीं थी, लेकिन स्वाधीनता की पदचाप को सुनना था। इस तरह हम, हमारा साहित्य, हमारे साहित्यकार इस शताब्दी की उस सुगबुगाहट से परिचित होते है, जिसे स्वाधीनता की सुगबुगाहट कहना चाहिए और जिसकी एक थरथराहट माखनलाल जी की प्रसिद्ध कविता की इन पंक्तियो मे निहित है—

मुझे तोड़ लेना वनमाली, उस पथ पर देना तुम फेंक।
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने, जिस पथ जायें वीर अनेक।

यहां यह बात कहना भी आवश्यक है कि स्वाधीनता की इस सुगबुगाहट के बीच अंग्रेजी साम्राज्यवाद की शोषण और विषमतामूलक व्यवस्था के विकल्प का सोच भी साहित्यिक कृतियों मे देखा जा सकता है। 'प्रेमचन्द' उस सोच के प्रतिनिधि साहित्यकार थे। वैयक्तिक संपत्ति की भयानक परिणतियों का जिक्र करते हुए 'महाजनी सभ्यता' मे उन्होंने लिखा : "इस महाजनी सभ्यता के सारे कामो की गरज पैसा होता है'''इस दृष्टि से मानो आज महाजनो का ही राज्य है। बड़ा हिस्सा तो मरने-खपने वालो का है और बड़ा हिस्सा उन लोगो का है जो अपनी शक्ति और प्रभाव से बड़े संप्रदाय को अपने वश मे किये हुए हैं। उन्हें इस बड़े भाग के साथ किसी तरह की हमदर्दी नही, जरा भी रियायत नहीं। उसका अस्तित्व केवल इसलिए है कि अपने मालिको के लिए पसीना बहाये, खून गिराये और एक दिन चुपचाप इस दुनिया से विदा हो जाये।" इसी करुणा से भीगकर प्रेमचन्द ने कफन जैसी कहानी और गोदान जैसी महत्त्वपूर्ण कृति लिखी। लेकिन एक और कृति-संदर्भ उपस्थित था—'प्रसाद' थे। प्रसाद भारत के महान अतीत की स्मृतियां ताजा कर रहे थे। उन्होंने जातीय दर्प का रोमांचकारी इतिहास लिखा और सर्जनात्मक भाषा को मोहक स्पर्श दिये। 'पुरस्कार' कहानी के अरुण और मधूलिका नाम पढे-लिखे मध्यम वर्ग को इतने अच्छे लगे कि उनमे से हजारों लड़के-लड़कियों के नाम यही हुए।

प्रेमचन्द और प्रसाद कोई प्रतिद्वंद्वी मल्ल या योद्धा नही थे। मुझे नहीं मालूम कि साहित्य को लेकर उनकी आपस में, कोई तनावपूर्ण रिश्तों की शुरुआत हुई। यह शायद साहित्य-चक्र का स्वभाव ही हो, स्थिति को समग्रता देने का कारण, या कृतिकारों का मिजाज कि कुछ इस जमीन से दैन्य, करुणा, भूख, मनुष्य की

लाचारी, संपत्तिवानों का दर्प, वर्णों की दांभिक कुलीनता, वर्गों के बीच आभिजात्य और शोषण के साथ जुड़े होते हैं और कुछ मनुष्य के अंतर्जगत, एक अदृश्य अकेलेपन, प्रेम और मैत्री, स्त्री-पुरुष की आत्मीय रिश्तेदारी, फूल, वन-वनस्पतियों और धुंध में डूबी जीवन की यादों के मोहक संसार के हिस्से हो जाते हैं। यह कोई वर्गीकरण नहीं होता। साहित्य के वर्गीकरण से गो कि एक अच्छा अध्यापक हुआ जा सकता है और फतवेबाजी मे आसानी होती है, लेकिन साहित्य का वर्गीकरण उसके मिजाज के विपरीत होता है। 'बेनेदिक्त क्रोचे' ने वर्गीकरण के संबंध में अपनी राय जाहिर करते हुए लिखा है : "कला में किसी भी प्रकार सौंदर्यशास्त्रीय वर्गीकरण व्यर्थ है। यदि यह होगा तो इसकी कोई सीमा नहीं होगी। क्योंकि इसकी अवधारणाएं बनाना संभव नहीं है और परिणामस्वरूप इसका दार्शनिक वर्गीकरण असंभव है। इसीलिए हमें उन सभी पुस्तकों को जो वर्गीकरण और व्यवस्थापन बतलाती हैं किसी नुकसान-नफे के सोचे बिना जला देना चाहिए।"

## वाणी-स्वातंत्र्य का महत्त्व

आजादी के समय का आवेश बाद में एक मोहभंग की स्थिति से गुजरता है। अभी तक एक विदेशी राज्यतंत्र की प्रकृति के साथ हमारा मन नहीं मिलता था और अब हमारे लोग उसी राज्यतंत्र को पूरी राजनीतिक अवसरवादिता और अपने वर्ग-हित के लिए चलाने लगे। समता के सपने, बहुत-सी गांधी की कही हुई बातें और बहुत-से मानवीय आदर्श झुठलाये जाने लगे। धीरे-धीरे एक बड़े सपने की मौत होने लगी। कट्टरपंथी राजनीति के विरुद्ध और सांप्रदायिक सद्भावों की नींव रखने के लिए गांधी मार दिये गये। पहली पंचवर्षीय योजना की भारी-भरकम जिल्द देखकर विनोबा जी ने तल्ख मजाकिया लहजे में पूछा था, "इसमें गरीब के लिए क्या लिखा है?" उस समय की स्थिति और लेखक की भूमिका के संबंध में निराला ने लिखा—

आगे चली गोली जैसे डिक्टेटर
उसके पीछे बहार, जैसे भुक्खड़
उसके पीछे दुम हिलाता टेरियर
आधुनिक पोएट
पीछे बादी बचत की सोचती
कैपेटेलिस्ट क्वाइट

यह अंश 'कुकुरमुत्ता' कविता से है, जो पांचवें-छठे दशक में लिखी गयी थी। इस समय न केवल समतावादियों को धक्का लगा, बल्कि राजनीतिक अवसरवादिता का जो खेल शुरू हुआ और निर्णय जिस तरह स्थगित होने लगे उसका एक

अच्छा-खासा व्यंग्यनामा है, मोहन राकेश की कहानी 'परमात्मा का कुत्ता'। कहानी का अंत करते हुए उन्होंने लिखा "चपरासी ने उसके लिए चिक उठा दी और वह कमिश्नर साहब के कमरे में दाखिल हो गया। घंटी बजी, फाइलें हिलीं, बाबुओं की बुलाहट हुई और आधे घंटे के बाद बेताज का बादशाह मुस्कुराता हुआ बाहर निकल आया। उत्सुक आंखों की भीड़ ने उसे आते देखा तो वह फिर बोलने लगा, "चूहों की तरह टिटर-टिटर देखने से कुछ नहीं होता। भौंको, भौंको, सबके सब भौंको। अपने आप सालों के कान फट जायेंगे। भौंको, कुत्तो भौंको।"

यह कहानी 'प्रोटेस्ट युग' की कहानी है। प्रजातंत्र में बोलने की आजादी का बहुत महत्त्व है। उस आजादी पर विश्वास करने वालों का जमाना आज भी है। दुनिया-भर में इस स्वाधीनता का आदर है। एक समर्थ राज्य-व्यवस्था, संसदीय प्रणाली लिखने-बोलने की इस आजादी का वैधानिक आदर करती हुई जिंदा है। एक समर्थ राज्यसत्ता का प्रतिपक्ष होकर व्यक्ति इस आजादी के बल-बूते पर अपनी सार्थकता को प्रमाणित करता है। धर्मवीर भारती ने 'टूटा पहिया' शीर्षक कविता लिखकर उस व्यक्ति की हैसियत की बात कही है—

> लेकिन मुझे फेंको मत
> क्योंकि इतिहास की सामूहिक गति सहसा झूठी पड जाने पर
> क्या जाने
> सच्चाई टूटे हुए पहियों मे आश्रय ले

वास्तव में हिंदुस्तान का साहित्य हमेशा से अतिवादी शिविरों मे विभक्त होने से डरता रहा है। पुरानी परंपरा के दर्शन, धर्म, नीति और सौंदर्यवादी आस्थाओं से बना मन जब एक आधुनिक विज्ञान-तकनीक प्रमुख, समता और नई आजादी के स्वाधीनताकामी आग्रहों के आमने-सामने हुआ, तब उसकी हिचक इतनी नहीं खुली कि वह एक की तुलना में दूसरे को वरीयता देकर छिटक देता। राजनीति की दुनिया मे यह संभव होता हो, एक व्यवस्था का विकल्प दूसरी व्यवस्था होती हो, लेकिन साहित्य मे यह कालाकन इतना साफ-साफ नहीं होता। संवेदनशीलता कभी एक कोरी स्लेट नहीं होती। जिस पर सहसा इतिहास, दिक्, काल को आविष्कृत कर लिया जाये। इसलिए आजादी के बाद एक लंबे समय तक साहित्य के मिजाज पर बहस होती रही; अनेक इच्छाओं का साहित्य, लिखा जाता रहा; शिविरबद्धता के आग्रह चलते रहे; साहित्य पर काल का दबाव पहचाना गया; शोषण-गैरबराबरी को कायम रखने-वाली शक्तियों की शिनाख्त की जाने लगी और राजनीति के शीत युद्ध और अवसरवादिता की प्रकृति भी समझने की पूरी कोशिश रही, फिर भी जैसा मुझे प्रतीत होता है दो शक्तिशाली मानवीय इच्छाएं विकसित होती रहीं, जिनके बीच

आधुनिक दुनिया में भेद करना और दोनों को दो समानांतर दुनियाओं में बांटना मुश्किल था, साहित्य में तो वह लगभग असंभव था। ये दो जबरदस्त इच्छाएं समता और स्वाधीनता की हैं। ये एक संपन्न मानवीय दुनिया की दो अंतर्ग्रंथित इच्छाएं भी हैं। इन्हें अलग-अलग देखना कठिन है। जब-जब इन्हें अलग-अलग कर देखा गया है तब-तब कलात्मकता का ह्रास हुआ है, क्योंकि तब साहित्य या तो राजनीति का प्रचारक हुआ है या फिर एक स्वाधीनता के लिए आग्रह होती हुई कृति सिर्फ अमूर्त अलंकरण या मोहक शब्द-कारीगरी होती है।

मुझे यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है कि समता और स्वाधीनता का केन्द्र मनुष्य है, जिसे अपनी सारी इच्छाएं इसी पृथ्वी पर पूरी करनी हैं। उन इच्छाओं को चुनना है और उन्हें आकृति देना है। आकृति देने के उपक्रम में ही साहित्य की आवश्यकता, उसकी भूमिका की बात उठती है, क्योंकि इससे बिलकुल मिलती-जुलती बात राजनीति करती है और चूंकि वह मनुष्य की बुनियादी इच्छाओं को जानती है, इसलिए उसे ललचाती है और ललचाते हुए दूर तक ले जाती है, और इंतजार कराती है। लगभग सभी राजनीतिक दल प्रायः एक ही तकनीक या लीक पर चलते हैं और जिसकी निंदा करते हैं उसके प्रति मन ही मन आकर्षित होते हैं। एक मायालोक की रचना होती है, तब दरअसल साहित्य मनुष्य-चित्त को नये तरीके से सर्जित करता है। एक नयी रोशनी देता है। वह रोशनी और जागरूकता हर समय के लिए होती है। यही स्वाधीनताकामी साहित्यकार की और साहित्य की भूमिका होती है, इसके फैलाव के रुकने के कई कारण होते हैं, कई बार साहित्य के व्याख्याकार राजनीति के साथ जुड़े होते हैं और वे राजनीतिक आग्रहों से साहित्य को व्याख्यायित करते हैं। वे प्राय: हर नई साहित्य-धार पर आक्षेप करते हैं। साहित्य इतिहास से जो सीख आवश्यक है उसकी ओर नये इतिहास के सौंदर्यशास्त्र में 'मुक्तिबोध' ने संकेत किया है। उन्होंने 'रचनाकार' और 'मानववाद' शीर्षक आलेख में लिखा है : "मेरे सामने मुख्य प्रश्न यह है कि समीक्षा की भाषा, समीक्षा-शैली, समीक्षा के अंतर्गत विचारधारा की अभिव्यक्ति इस प्रकार हो कि लेखक यह समझ सके कि समीक्षक उसका शत्रु नहीं, उसका मित्र, उसका भ्राता है।"

## लेखक-समीक्षक दो पृथक लोकवासी नहीं हैं

लेखक लंबी-चौड़ी सिद्धांतवादी शब्दावली से न प्रभावित होता है न उसे ज्ञान ही पाता है। अतएव यह आवश्यक है कि इस ढंग से बात की जाए कि जिससे लेखक-समीक्षक की दूरी कम हो, वे दोनों विभिन्न पृथक लोकों में न रहकर, एक ही जगत में रहकर, एक ही भाषा बोलते-से प्रतीत हों।

सिद्धांत जीवन-जगत के विभिन्न सामान्यीकरणों पर ही तो आधारित होते

हैं। वे मानव के अंतःकरण में स्थित जीवन-ज्ञान-व्यवस्था का ही तो एक ऊर्ध्व-विकास-रूप हैं। अतएव मेरा यह आग्रह है कि आज के लेखक के परिवेश, उसकी रचना-प्रक्रिया, उसके अंतःकरण के संवेदन-पुंजों को समझाते हुए, उसकी विशेष संदर्भ-युक्त भाषा को समझाते हुए, और यह मानते हुए कि लेखक मानव-जीवन ही की अभिव्यक्ति कर रहा है—संक्षेप में लेखक के अंतःकरण और काव्य में सहानुभूतिशील अंतर्दृष्टि को परिचालित करते हुए समीक्षा कार्य किया जाये।

'मुक्तिबोध' का यह आलेख पुराना है लेकिन इसमें साहित्यालोचकों को नये पथ-बंधुओं का दृष्टिकोण समझने का आग्रह है जो प्रायः राजनीतिक आग्रहों से संभव नही होता। साहित्य के राजनीतिक आग्रह सिर्फ प्रगतिवादियों की तरफ से नही आते दूसरी तरफ से भी आते हैं—उदारवादियों (लिबरल्स) की तरफ से भी, जो जान-बूझकर मेमने किस्म के लगते हैं और कलात्मक सम्मोहन के जरिए मनुष्य की अत्याचार-विरोधी इच्छाओं को कमजोर करते रहते हैं।

1963-66 के बीच लिखी कविताओं में सर्वेश्वर की एक अच्छी कविता है—कविताएं-2 में, लीक पर वे चले।

लीक पर वे चलें जिनके
चरण दुर्बल और हारे हैं
हमें तो जो हमारी यात्रा से बने
ऐसे अनिर्मित पंथ प्यारे है
साक्षी हों राह रोके खड़े
पीले बांस के झुरमुट
कि उनमें गा रही है जो हवा
उसी से लिपटे हुए सपने हमारे हैं
शेष जो भी हैं
वक्ष खोले डोलती अमराइयां
गर्व से आकाश थामे खड़े
ताड़ के ये पेड
हिलती क्षितिज की झालरें
झूमती हर डाल पर बैठी
फलों से मारती
खिलखिलाती शोख अल्हड़ हवा
गायक-मंडली-से थिरकते आते गगन में मेघ
वाद्य-यंत्रों से पड़े टीले
नदी बनने की प्रतीक्षा में कहीं नीचे

शुष्क नाले में नचाता एक अंजुरी जल
सभी बन रहा है कहीं जो विश्वास
जो संकल्प हम में
बस उसी के ही सहारे हैं ।

सर्वेश्वर की इस कविता, विश्वासहीन होती हर किस्म की राजनीति और उसके ढलान को बताती है। यह कोई व्यक्तिवादी कविता नहीं है, कहीं रेत में सिर नहीं छिपाती, बल्कि अपने आगे बढ़ने के हौसले और नये गंतव्यों को घोषित करती है।

सातवें दशक का प्रारंभ होते-होते 'धूमिल' का काव्य-संकलन प्रकाशित होता है—'संसद से सड़क तक। इस काव्य-संकलन मे धूमिल की 'मोचीराम' कविता है। यह कविता सिर्फ तल्ख और अपारंपरिक काव्य-भाषा की आविष्कृति के लिए ही नहीं जानी जाती, बल्कि उन सब लोगों के आर्थिक तनावों को व्यक्त करती है जो हमारे समय के सबसे असली तनाव हैं और अंत मे एक वक्तव्य के साथ खत्म होती है। प्रारंभ करते हुए लिखा है—

बाबूजी ! सच कहूं—मेरी निगाह में
न कोई छोटा है
न कोई बड़ा है
मेरे लिए हर आदमी एक जोड़ी जूता है
जो मेरे सामने मरम्मत के लिए खड़ा है

बीच का अंश है—

और बाबूजी ! असल बात तो यह है कि जिंदा रहने के पीछे
अगर सही तर्क नहीं है
तो रामनामी बेच कर या रंडियों की
दलाली कर के रोजी कमाने में
कोई फर्क नहीं है

अंत इस तरह होता है—

सबको जलाती है सच्चाई
सबसे हो कर गुजरती है
कुछ हैं जिन्हें शब्द मिल चुके हैं
कुछ हैं जो अक्षरों के आगे अंधे हैं
वे हर अन्याय को चुपचाप सहते हैं

और पेट की आग से डरते हैं
जबकि मैं जानता हूं कि 'इनकार से भरी हुई एक चीख'
और एक समझदार चुप
दोनों का मतलब एक है
भविष्य गढ़ने में 'चुप' और 'चीख'
अपनी-अपनी जगह एक ही किस्म से
अपना-अपना फर्ज अदा करते हैं।

धूमिल के संग्रह के कुछ दिनों बाद रघुवीर सहाय का काव्य-संकलन प्रकाशित होता है, 'हंसो, हंसो, जल्दी हंसो'। यह संकलन उस जमीन की तरह नजर आता है जिसके नीचे लावा है, लेकिन ऊपर से शांत है। धूमिल की तरह काव्य भाषा की इतनी चमत्कृति नहीं है, लेकिन कथ्य के तनाव हैं; वे कथ्य बिलकुल हमारे नजदीक आत्मीय किंतु बेजुबान हैं। उन्ही में से कविता आती है—हंसने की ऊपरी प्रक्रिया के नीचे शोक, संताप की रुला देने वाली कविता। एक कविता की ओर आपका ध्यान आकर्षित करता हूं। सिर्फ उसके प्रारंभ और अंत की तरफ—

देखो सड़क पार करता है पतला दुबला बोदा आदमी
आती हुई टरक का इसको डर नही
या कि जल्दी चलने का इसमें दम नही रहा
आंख उठा देखता है डरेवर को
देखो मैं ऐसे ही चल पाता हूं

अंत इस प्रकार है—

यह रपट यहीं खत्म होती है चाहे एक मामूली बात और
जोड़ लें
कि इस वर्ष मैंने और अधिक मोटर मालिक देखे नियम
तोड़कर बायें हाथ से अगली गाडी से अगिया जाते हुए

उन लडकों का यहां जिक्र नही किया गया है
जो इन्हे देखकर खून का घूंट पीकर रह जाते हैं
क्योंकि उनमे से कोई दुर्घटना में शामिल नही हुआ।

यह एक आत्मीय दुख की कविता है। दुख के सामाजिक न होने की दुर्घटना में शामिल नही हैं तो सिर्फ दांत भींचते हैं और चले जाते हैं। सबके बंटे हुए दुख 'अवसरवादिता' का ही एक हिस्सा हैं।

## चलो 'गंगा' में नहा ही लें

सन् 70-80 के बीच बहुत-सी राजनीतिक-साहित्यिक कारवाई हुई। पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन, विचार-विमर्श, भाषण, कविता, कहानी, उपन्यास और व्यंग्य विधाओं में समसामयिक मानवीय और व्यवस्था-त्रास की ऐसी ऊर्जा जनमी कि लोग फिर से एक महान तब्दीली की प्रतीक्षा करने लगे, इस तब्दीली की चाह के पीछे 'जेनुइन' और 'फेक' दोनों तरह की शक्तियां थीं। 'फेक' शक्तियों में स्वयं व्यवस्था, सेठ, बड़े कारखानेदार, भूमिपति, पूंजीपति प्रेस और भिन्न-भिन्न वैचारिक शिविरों के देश शामिल थे। व्यवस्था चतुराई से जनपक्ष का मुखौटा लगाकर व्यवस्थित हो रही थी। विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमों में क्रांति और व्यवस्था-विरोध की कविताएं शामिल कर ली गयी। पुस्तकों की केंद्रीय खरीद में क्रांतिकारी कवियों की अग्निधर्मा पुस्तकें खरीद कर स्कूल-कॉलेजों में भेज दी गयी। अकादमियों और सेठों के तिजारती फाउंडेशन लाखों का पुरस्कार देने लगे। साहित्य-संस्कृति के विभिन्न शिविरवादी संगठन और मंच अनुवाद और यात्राएं कराने लगे। *लगे हाथ 'राजनीतिक अवसरवादिता की गंगा में नहा ही लिया जाये'*—ऐसा मन बनानेवाले सब तरफ फैल गये।

'जेनुइन' लोगों को लग रहा था कि लोकतंत्र के दायरे में जो संवैधानिक तरीका है उसमें से कोई उत्तर जन-समस्याओं का मिलता नहीं है। कोल्हू के बैल की तरह यही जो तंत्र है, यही जो व्यवस्था है लोकतंत्र की, इसमें घूमती जनता को कोई यातना-मुक्ति नहीं मिलेगी। इस तरह एक पूरी व्यवस्था पर 'बिंदु' के 1971 के अंक में 'विजयमोहन सिंह' की एक कविता छपी थी, जो भवानी भाई ने भेजी थी। कविता का शीर्षक था—'मेरे देश को गालियां मत दो।' इस कविता की कुछ पंक्तियां द्रष्टव्य हैं, वे स्थितियों पर बेलाग टिप्पणियां हैं—

मेरा देश सोने का बंगाल है
इसका हर गली-कूचा कंगाल है
मेरा देश आवाराओं का मुहल्ला है
इसमें सुबह-शाम
शोहदे अखबारों का हो-हल्ला है
मुस्टंडे साधुओं और पेटू महाजनों का
पूरा इजारा है, पक्का घड़ल्ला है
मेरे देश को गालियां मत दो।
मेरा देश जवान है
बूढ़ा है ओछा है और महान है

इसकी आंखों में अनागत है
मस्तक पर अंकित श्मशान है
मेरा देश त्रैलोक्य का नेता है
कोरा विदूषक है सड़ियल अभिनेता है
झुके हुए इसके कंधों पर
सतयुग है, द्वापर है, त्रेता है
मेरे देश में मेरी, तुम्हारी,
उनकी, सबकी आवाज है
मेरा देश भरा-पूरा है, आजाद है
मेरा देश विधि-निषेधों का राजा है
दकियानूसों का सिरताज है।

संसद का यह समय सबके लिए चिंताजनक था, क्योंकि निर्णय लगभग स्थगित हो गये थे। इसी बीच गो कि एक भिन्न कारण से 26 जून 1975 को आपातस्थिति घोषित कर दी गयी। इस देश की जनता के लिए यह मामूली हादसा नही था। स्वाधीनता का अर्थ एक स्वाधीनता के अभाव की स्थिति में अच्छी तरह समझ मे आने लगा, पूरे हिंदुस्तान और सभी भाषाओं में कविताओं को ही नहीं, आपातस्थिति के विरुद्ध अखबार की खबरो तक को प्राथमिकता प्राप्त होने लगी। यह प्राथमिकता एक अप्रामाणिक राज्यतंत्र का प्रतिपक्ष थी और रचनाओ को जो बेचैनी की भाषा मिली वह पूरे देश की दबी हुई बेचैनी थी, जो इधर सत्ता-प्रतिष्ठानों और सत्ताधीशों द्वारा अप्रासंगिक करार दी जा रही थी। आपातस्थिति का बेचैन साहित्य इस बात का गवाह है कि मानवीय आवश्यकता और मानवीय स्वाधीनता को दो हिस्सों में बांटना असंभव है। अंग्रेजी के प्रोफेसर 'जोन ओलिवर पेरे' ने आपातकालीन कविताओं के संकलन 'वॉयसेज ऑफ इमर्जेंसी' की भूमिका में एक जगह लिखा है—निश्चय ही इन कविताओं ने अशिक्षित जनता को जानकारी नही दी; न ही इन्होंने दबी हुई भावनाएं उकसायी। वस्तुतः ये साहित्यिक प्रतिक्रियाएं राष्ट्र की अपनी भूमिगत भावनाओं का प्रतिनिधित्व करती थीं। इसलिए जब तक अपने यहां की शक्तियों से और मानव-अधिकारों और आवश्यकताओं की समस्याओं से भारत का संघर्ष चलता रहता है, तब तक ये निरंतर प्रासंगिक बनी रहेंगी।

## रचना सृजन है, उद्वमन नहीं

**1975** से **1977** के आपातकाल के बाद के चुनावों में जनता पार्टी का राज्य थोड़े दिन के लिए कुछ चमक-दमक दिखा कर विग्रह की राजनीति

में बदल गया। पिछली दो शताब्दियों के राज्यतंत्र के सन्नाटे को तोड़ने में ढाई वर्ष का झगड़ालू कार्यकाल निःशेष हो गया और वही राज्यतंत्र ठीक उसी लकदक और नौकरशाही और ऐश्वर्य के पूरे तामझाम के साथ मौजूद है।

साहित्य में हमारा संघर्ष स्वाधीनता के लिए उसी तरह छिड़ा है। मैं यह नहीं मानता हूं कि भूखे लोगों को स्वाधीनता से कोई लेना-देना नहीं है। सच्चाई तो यह है कि उन लोगों को ही स्वाधीनता की सबसे अधिक जरूरत है। भूख जब राजनीति का हिस्सा हो तब उसके लिए स्वाधीनता की बात जरूरी है।

साहित्य भूख और स्वाधीनता के नारों को उछालकर सृजनशीलता की उच्च कोटियां हासिल नहीं करता। वह दोनों के अविभाज्य अहसास का पोषण करता है और हमेशा रचनाशीलता के मोर्चे पर सजग रहता है।

इस लंबे आलेख में मैंने साहित्य और स्वाधीनता का विवेचन किया है। मैंने साहित्य की स्वायत्तता और सापेक्षता, दलीय प्रतिबद्धता और साहित्य, साहित्य के दैविक, मनोवैज्ञानिक, मार्क्सवादी उत्स या कि दूसरे प्रश्नों पर जान-बूझ कर चर्चा नहीं की। मैं तो सिर्फ एक मानवीय स्थिति और उसके लिए सजग साहित्यिक पक्ष की तैयारी का विवेचन कर रहा था।

आप किसी भी पक्ष को खेमों में बांट सकते हैं। किसी भी आदमी, साहित्य या उसके वक्तव्य को संदेह की दृष्टि से देख सकते हैं, ऐसा करना कभी-कभी आवश्यक भी होता है—शत्रु-मित्र की पहचान भी जरूरी है, लेकिन विश्व-परिदृश्य और साहित्य के मिजाज से अपरिचित रहकर सिर्फ अंदाजों के आधार पर साहित्य के प्रयोजनों की कांट-छांट शायद अज्ञान नहीं तो अवसरवादिता तो अवश्य ही कही जायेगी।

साहित्य के संदर्भ में मैं यह वक्तव्य 'समकालीन कविता की भूमिका' में लेखक डॉ॰ विश्वंभरनाथ उपाध्याय के शब्दों में करूंगा—"कविता, कविता के रूप में ही परखी जायेगी और सामाजिकता के संदर्भ में भी उस पर विचार होगा। रचना एक व्यवस्था है, विन्यास है, वह सायास हो या अनायास, वह रचना है, सृजन है, उद्वमन नहीं।"